विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ३ मार्च २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च, २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ३

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(उन्नीसवीं तालिका)

७२०. श्रीमती सुषमा यादव, डीडीए फ्लैट्स, मुनिरका, नई दिल्ली
७२१. श्री बी. पी. रावत, पुष्पनगर कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
७२२. श्री एल. एन. सिंह, स्मृति नगर, भिलाई (छ.ग.)
७२३. मेसर्स आदर्श फैब्रिक्स, लिंक रोड, कालीकट (केरल)
७२४. श्री राजेन्द्र कुमार बंछोर, सेक्टर ८, भिलाई (छ.ग.)
७२५. श्री पवन कुमार गुप्ता, मेनरोड, करेली, नरसिंहपुर (म.प्र.)
७२६. श्री सी. के. विश्वकर्मा, कटरा रोड, मण्डला (म.प्र.)
७२७. श्रीमती पुष्पा राठी, रामपुर, जबलपुर (म.प्र.)
७२८. स्वामी प्राणरूपानन्द, कोठार, भद्रक (उड़ीसा)
७२९. श्रीमती पुष्पा साहू, सेमरसाल, बिलासपुर (छ.ग.)
७३०. श्री नरोत्तम लाल साहू, सिवनी, जांजगीर-चाम्पा (म.प्र.)
७३१. श्री एन. आर. वर्मा, जवाहरनगर, दुर्ग (छ.ग.)
७३२. श्री देवनारायण पाठक, समता कॉलोनी, रायपुर (छ.ग.)
७३३. श्रीमती कंचन एल. कालरा, चेम्बूर, मुम्बई (महा.)
७३४. श्री रमेश हरिराम, किला पारडी, वलसाड़ (गुजरात)
७३५. श्री विष्णु नारायण शुक्ला, खिरखिरी, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)
७३६. डॉ. बंशीधर झा, पद्मनाभपुर, दुर्ग (छ.ग.)
७३७. सचिव, रामकृष्ण मिशन, पोर्ट ब्लेयर (अन्दमान)
७३८. श्रीमती सुलेखा कौल, मलाड, पश्चिमी मुम्बई (महा.)
७३९. श्री अनूप शर्मा, हीरानन्दानी उद्यान, पवई, मुम्बई (महा.)
७४०. स्वामी सर्वमयानन्द, रामकृष्ण मिशन, वराहनगर, कोलकाता
७४१. श्री आर. एस. रावल, मंगलवार वार्ड, होशंगाबाद (म.प्र.)
७४२. श्री के. सी. वर्मा, कादम्बिनी नगर, दुर्ग (छ.ग.)
७४३. श्री राजकुमार अवस्थी, फाफाडीह, रायपुर (छ.ग.)
७४४. श्री वेनी प्रसाद शर्मा, शिमला (हिमांचल प्रदेश)
७४५. डॉ. अनन्त राजमाने, समर्थ नगर, उस्मानाबाद (महा.)
७४६. स्वामी श्रद्धानन्द, रामकृष्ण तुलसी मठ,ऋषीकेश (उत्त.)
७४७. श्री शुभाशीष गांगुली, इन्द्र कॉलोनी, आगरा (उ.प्र.)
७४८. स्वामी स्वरूपानन्द, साधना कुटीर, खुर्द, इन्दौर (म.प्र.)
७४९. श्री बालकृष्ण झालानी, महाश्वेता नगर, उज्जैन (म.प्र.)
७५०. श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द सेवा मण्डल, अकोला (महा.)
७५१. श्री हरिनारायण शर्मा, गांधी चौक, राजनांदगांव (छ.ग.)
७५२. श्री आलोक कुमार शुक्ला, सुदामानगर, इन्दौर (म.प्र.)
७५३. डॉ. सिद्धार्थ, दिलकुश, नया कटरा, इलाहाबाद (उ.प्र.)
७५४. श्री मनोज कुमार गन्धी, डीग, भरतपुर (राजस्थान)
७५५. श्री तुषार एन. खैरे, रामनगर, नागपुर (महाराष्ट्र)
७५६. श्री सुनील दीक्षित, गीतांजलि नगर, रायपुर (छ.ग.)
७५७. श्री के. पी. द्विवेदी, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
७५८. श्री योगेश कुमार शर्मा, सिविल लाइन्स, अम्बाला सिटी
७५९. डॉ. दिनेश चन्द्र पाठक, चम्पावत (उत्तरांचल)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेज़ें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

नीति-शतकम्

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ।।५५।।

अन्वयः – लोभः चेत् अगुणेन किम्, यदि पिशुनता अस्ति पातकैः किम्, सत्यं चेत् तपसा च किम्, यदि शुचिः मनः अस्ति तीर्थेन किम्, यदि सौजन्यं (अस्ति) गुणैः किम्, यदि सुमहिमा अस्ति मण्डनैः किम्, यदि सद्विद्या (अस्ति) धनैः किम्, यदि अपयशः अस्ति मृत्युना किम्?

भावार्थ – मनुष्य में यदि लोभ है तो उसे अन्य किसी दुर्गुण की जरूरत नहीं, यदि चुगलखोरी है तो अन्य किसी पाप की आवश्यकता नहीं, यदि सत्य है तो किसी अन्य तपस्या का प्रयोजन नहीं, यदि मनःशुद्धि है तो तीर्थ-सेवन की जरूरत नहीं, यदि सज्जनता है तो किसी अन्य गुण की आवश्यकता नहीं, यदि बड़प्पन है तो किसी आभूषण का प्रयोजन नहीं, यदि उत्तम विद्या है तो धन की कोई जरूरत नहीं और यदि बदनामी है तो उसे मृत्यु की आवश्यकता नहीं।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ।।५६।।

अन्ववः – दिवसधूसरः शशी, गलितयौवना कामिनी, विगतवारिजं सरः, स्वाकृतेः अनक्षरं मुखम्, धनपरायणः प्रभुः, सततदुर्गतः सज्जनः, नृपाङ्गणगतः खलः, सप्त मे मनसि शल्यानि ।

भावार्थ – ये सात चीजें मेरे मन में शूल की भाँति चुभती रहती हैं – दिन में धूमिल चन्द्रमा, यौवनातीत नारी, कमलहीन सरोवर, विद्याहीन सुन्दर व्यक्ति, धन का लोभी राजा, सर्वदा दुर्दशा में पड़ा सज्जन और राजा का मुँहलगा दुर्जन।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(भैरव-दादरा)

हे दयालु रामकृष्ण, तुम दया करो,
कर कृपा-कटाक्ष देव, दोष-दुख हरो ।।

तुम ही धर्म, तुम ही अर्थ, तुम ही काम हो,
तुम ही भुक्ति-मुक्ति रूप, पुण्यधाम हो ।।

तुम ही शान्ति, तुम ही ज्ञान, तुम ही ध्यान हो,
तुम ही भक्ति, तुम ही शक्ति, सुखनिधान हो ।।

तुम ही जन्म, तुम ही मृत्यु, तुम ही व्याधि हो,
तुम ही नाम रूप आदि सब उपाधि हो ।।

तुम ही नरक, तुम ही स्वर्ग, तुम ही मर्त्य हो,
तुम ही सकल मिथ्या हो, तुम ही सत्य हो ।।

– २ –

(मधुवन्ती-कहरवा)

हे रामकृष्ण त्रिभुवन स्वामी,
युग युग में नव नव रूप लिये,
तुम आते हो अन्तर्यामी ।।

अनुराग-त्याग का साज धरे,
इस बार पुनः भू पर उतरे,
प्रज्ञा से प्लावित हो अवनी,
सुख-शान्ति-श्रेयपथ अनुगामी ।।

मैं जनम जनम का आराधक,
थक गये नेत्र राहें तक तक,
अब चरण कमल में आया हूँ,
मैं ज्ञान-भक्ति-श्रद्धा-कामी ।।

– *विदेह*

विवेकानन्द-जीवनकथा (४)

स्वामी प्रेमेशानन्द

विश्वविजय

१८९३ ई. में उत्तरी अमेरिका के शिकागो नगर में एक विराट् मेले का आयोजन हुआ था। पृथ्वी भर में जहाँ भी, जो भी अच्छी अच्छी चीजें हैं उनका संग्रह करके उस मेले में प्रदर्शित किया गया था। इस मेले में वैज्ञानिकों की एक सभा हुई और रोमन कैथलिक ईसाइयों ने अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के उद्देश्य से वहाँ एक धर्मसभा का भी आयोजन किया था। विश्व के सभी देशों से, सभी सम्प्रदायों से अनुरोध किया गया कि वे उस सभा में अपने अपने धर्म का सारमर्म समझाने को प्रतिनिधि भेजें। ऐसा विशाल मेला और ऐसी विराट् सभा इससे पहले कभी आयोजित नहीं हुई थी।

मद्रास के कुछ युवकों ने स्वामीजी की प्रतिभा पर मुग्ध होकर उनसे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका जाने का अनुरोध किया। स्वामीजी भी समझ गये थे कि भारत में धर्मप्रचार करके इस देश का कल्याण करना सम्भव नहीं। पाश्चात्य सभ्यता के बाहरी चकाचौंध पर मुग्ध होकर भारतवासी अपने धर्म एवं संस्कृति को अत्यन्त हेय समझने लगे हैं। पाश्चात्य राष्ट्रों को भारतीय सभ्यता समझा देने से, उनके मुख से प्रशंसा सुनकर भारतवासी जाग्रत हो सकेंगे और पाश्चात्य देश भी अपनी सभ्यता में सुधार लाकर उन्नत होंगे – यही सब सोचकर स्वामीजी शिकागो की धर्मसभा में भाग लेने को सहमत हो गये।

मद्रास के भक्तों तथा खेतड़ी के राजा ने उनके अमेरिका जाने की सारी व्यवस्था कर दी। ३१ मई १८९३ ई. को स्वामीजी अमेरिका की यात्रा पर चल पड़े और जुलाई के मध्य में शिकागो जा पहुँचे।

शिकागो पहुँचते ही, संसार के व्यवहार में अनुभवहीन संन्यासी को विविध प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ा। वहाँ जाने पर उन्हें पता चला कि सभा सितम्बर के प्रारम्भ में शुरू होगी और किसी-न-किसी संस्था द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों को ही उसमें व्याख्यान देने का अवसर मिलेगा। यह सूचना पाकर वे बिल्कुल निराश हो गये। डेढ़-दो महीने तक शिकागो में निवास करने के लिए काफी धन की आवश्यकता थी, फिर वे किसी संस्था से परिचय-पत्र भी लेकर नहीं आये थे। अत: धर्मसभा में भाग लेना उनके लिए असम्भव था। परन्तु जब वे अमेरिका आ ही पहुँचे हैं, तो कुछ-न-कुछ किये बिना लौट जाना भी उचित न होगा – ऐसा सोचकर वे किसी अवसर की प्रतीक्षा में भगवान पर निर्भर होकर वहीं रह गये।

वे प्रतिदिन मेला देखने जाया करते थे। उनकी भारतीय वेशभूषा देख लोगों का ध्यान बरबस उनकी ओर आकृष्ट हो जाता, कोई कोई उनके साथ वार्तालाप करने भी चले आते। इस प्रकार वे अमेरिकी लोगों के साथ थोड़ा थोड़ा परिचित होने लगे। उन्हें पता चला कि निकट ही स्थित बॉस्टन नगर कम खर्चीला है, अत: बारह दिनों बाद वे उधर चल पड़े। ट्रेन में उनका एक महिला के साथ परिचय हुआ। उक्त महिला ने भारतीय संन्यासी के मुख से प्राच्य देशों की अद्भुत बातें सुनने तथा अपने मित्रों को सुनवाने के उद्देश्य से स्वामीजी से अपने घर आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। इस अपरिचित देश में अप्रत्याशित सहारा पाकर स्वामीजी ने सहर्ष यह निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

उन महिला ने स्वामीजी की बातें सुनने के लिए अपने मित्रों को आमंत्रित किया। वे सभी स्वामीजी की अपूर्व प्रतिभा देखकर विस्मित रह गये। वहाँ पर महिलाओं की एक समिति थी, जिसमें उन्हें व्याख्यान देने को आमंत्रित किया गया। उनका व्याख्यान सुनकर श्रोतागण अतीव मुग्ध हुए। इसके फल-स्वरूप उनके बारे में विविध प्रकार की चर्चाएँ होने लगी। फिर विख्यात हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक भाषा के प्राध्यापक राइट महोदय को भी उनकी विद्वत्ता के बारे में पता चला। उत्सुकतावश एक दिन वे उनसे मिलने आये और उनके साथ कई घण्टे बातचीत करके बड़े मुग्ध हुए। उन्होंने धर्मसभा में स्वामीजी के प्रतिनिधित्व की सारी बाधाएँ दूर करके इसकी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली। स्वामीजी के महत्त्व तथा विद्वत्ता का वर्णन करते हुए उन्होंने सभा-संचालकों के नाम एक पत्र लिखा। उस पत्र में उन्होंने लिखा था, "हमारे सभी प्राध्यापकों को एकत्र कर दिया जाय, तो भी यह व्यक्ति उनसे बड़ा विद्वान् सिद्ध होगा।" इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करने के पश्चात् वे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत हुए।

११ सितम्बर १८९३ ई. को विश्व के सभी देशों के सभी धर्मों के प्रतिनिधि निर्दिष्ट सभागार में एकत्र हुए। स्वामीजी गैरिक वस्त्र और पगड़ी धारण किये हुए थे। सभागार हजारों विद्वान् तथा धार्मिक लोगों से खचाखच भरा हुआ था। पहले दिन सभापति महोदय ने सबसे अन्त में स्वामीजी का हिन्दू
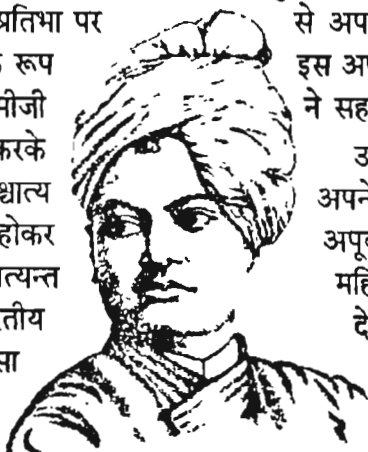
धर्म के प्रतिनिधि के रूप में श्रोताओं से परिचय कराया। उनके "Sisters and Brothers of America" (अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो!) कहकर सभा को सम्बोधित करते ही वहाँ समवेत सात-आठ हजार लोगों की तालियों की गड़गड़ाहट तथा हर्षध्वनि से कान बहरे होने लगे। कुछ मिनट तक स्वामीजी स्थिर खड़े रहे और श्रोतागण आनन्द से अधीर होकर उन्हें साधुवाद देते रहे। स्वामीजी के इस एक सम्बोधन मात्र से ही अमेरिकावासी उनके सर्वधर्मों तथा सर्वजातियों के समत्व का भाव समझ गये थे।

हिन्दू धर्म की अन्य सभी धर्मों के प्रति सहानुभूति के विषय में संक्षेप में बोलने के बाद वे वापस अपनी जगह पर जा बैठे। परन्तु उनका वह छोटा-सा ही व्याख्यान सुनकर अमेरिकावासी इतने मुग्ध हो गये कि अगले दिन वहाँ के सभी समाचार-पत्रों में स्वामीजी के व्याख्यान की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी थी। इसके बाद के प्रत्येक अधिवेशन में श्रोतागण बड़ी उत्सुकता के साथ उनका व्याख्यान सुनने के लिए बाट जोहते रहते। सभा में अनेक नीरस और सुदीर्घ प्रबन्धों के पाठ तथा व्याख्यान हुआ करते थे, अत: अध्यक्ष महोदय सभा के आरम्भ में ही घोषणा कर देते कि अन्त में स्वामी विवेकानन्द भी कुछ बोलेंगे। उनका व्याख्यान सुनने की आशा लिये श्रोतागण उन सारे नीरस प्रबन्ध-पाठों के दौरान धैर्यपूर्वक बैठे रहते थे। सत्रह दिनों तक धर्म के बारे में कितने ही भाषण हुए, परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने धर्म की जैसी व्याख्या की, उससे उत्कृष्टतर मत की कोई स्थापना नहीं कर सका। पाश्चात्य देशों में हिन्दू धर्म की विजयपताका लहराने लगी।

स्वामीजी के भाषण सुनकर पूरा अमेरिका उन्मत्त हो उठा। उन्हें एक बार देखने या उनकी बातें सुनने को लोगों की भीड़ लग जाती। उनके बारे में कितनी ही बातें समाचार-पत्रों में छपने लगीं। उनके बड़े बड़े चित्र चौराहों पर टँग गये। रास्ता चलते लोग परम श्रद्धापूर्वक उन चित्रों को नमस्कार करते।

प्रथम अधिवेशन के दिन वहाँ के एक धनाढ्य व्यक्ति स्वामीजी के व्याख्यान पर मुग्ध होकर, उन्हें निमंत्रण देकर शाम को अपने घर ले गये। एक अति उत्तम कमरे में उनके निवास की व्यवस्था करके गृहस्वामी स्वयं ही उनकी सेवा करने लगे। जिन विलासिता की वस्तुओं से वह कमरा सजा था, उन दिनों भारतवासी उन सबकी कल्पना तक नहीं कर सकते थे। बिजली का प्रकाश, स्प्रिंग के गद्दे, फर के तकिये आदि ऐशो-आराम की वहाँ न जाने कितनी चीजें थी। रात के भोजनोपरान्त उस इन्द्रपुरी के समान निर्जन कक्ष में बैठकर उन्हें भारत की निर्धनता की याद हो आयी। अमेरिकी ऐश्वर्य की तुलना में भारत की दरिद्रता कितनी भीषण है – इस विषय में सोचते सोचते वे अधीर हो उठे और 'माँ', 'माँ' कहकर रोने लगे। शोक का आवेग सहन कर पाने में अक्षम होकर वे फर्श पर ही लोट गये और सारी रात रो-रोकर बितायी।

अमेरिकावासियों का आग्रह देखकर स्वामीजी वहाँ के विविध स्थानों में हिन्दू धर्म के बारे में व्याख्यान देते हुए भ्रमण करने लगे। पाश्चात्य देशवासी धन-दौलत की बातें भलीभाँति समझते थे, परन्तु धर्म की बातें ठीक ढंग से नहीं जानते; विशेषकर हिन्दू धर्म-भाव उनकी भाषा में व्यक्त करना बड़ा ही कठिन है। परन्तु स्वामीजी के व्याख्यान सुनकर लोगों के मन में हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा का उदय होने लगा। यहाँ तक कि बहुत-से लोगों ने उनसे दीक्षा लेकर साधना आरम्भ कर दी।

उनकी यह सफलता देखकर एक कट्टर ईसाई सम्प्रदाय के लोग चिढ़ गये। वे लोग तरह तरह से स्वामीजी को परेशान और बदनाम करने के प्रयास में लग गये। समाचार-पत्रो में उनकी भयानक निन्दा करते हुए उन्हें दुश्चरित्र तथा मिथ्याचारी प्रमाणित करने की चेष्टा होने लगी। परन्तु अनेक उच्च-शिक्षित, सम्भ्रान्त और प्रभावशाली लोग स्वामीजी के प्रशंसक थे, फलत: उन दुष्टों की सारी कोशिशें असफल रहीं। यदि कोई बुरा व्यक्ति किसी अनुचित उद्देश्य से उनके पास आता, तो वे उसके मन का भाव उसके मुँह पर बोल देते। इस पर वह व्यक्ति लज्जित होकर अपनी राह पकड़ता या फिर उनका शिष्य बन जाता। इतने लोगों ने उनकी इतने प्रकार से परीक्षा की थी कि इसका कोई अन्त नहीं पाया जा सकता।

स्वामीजी अपने व्याख्यानों में बताते थे कि आत्मा अमर है, प्रयास करके उसका साक्षात्कार किया जा सकता है और इसके फलस्वरूप मृत्युभय से मुक्त हुआ जा सकता है। उन्होंने स्वयं इस सत्य की उपलब्धि की है अथवा नहीं – इस बात की परीक्षा करने के लिए एक बार कुछ लोगों ने उन्हें व्याख्यान के लिए निमंत्रित किया। स्वामीजी ने जाकर देखा कि उनके खड़े होकर बोलने के लिए लकड़ी का एक पीपा उल्टा करके रखा हुआ है। वे नि:संकोच उस पर खड़े होकर व्याख्यान देने लगे। व्याख्यान के बीच अचानक धमाके की आवाज के साथ बन्दूक की एक गोली उनकी कनपटी के पास से होकर निकल गयी। परन्तु स्वामीजी अविचलित भाव से यथावत् बोलते रहे। व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं ने उनकी इस प्रकार परीक्षा लेने के लिए क्षमा माँगी।

पाश्चात्य देशों में उन दिनों जातिभेद बड़ा भयानक था। हमारे देश के होटल में तो सभी जाति के लोगो के खाने की व्यवस्था रहती है; परन्तु उन लोगों के होटलों में गोरी चमड़ी न होने से ही प्रवेश निषिद्ध था। कभी कभी होटलवाले स्वामीजी को निग्रो समझकर उन्हें रहने की जगह ही नही देते थे। एक बार उन्हें अमेरिका के दक्षिणी भाग मे व्याख्यान के लिए बुलाया गया। वहाँ किसी भी होटल में उन्हे प्रवेश नही

मिला। आखिरकार निमंत्रण देनेवालों ने बड़ी कठिनाई से उनके रहने की व्यवस्था की। परन्तु वे कभी अपने मुख से यह नहीं कहते थे कि वे निग्रो नहीं हैं। एक बार एक सज्जन ने उन्हें अपने यहाँ निमंत्रित किया। वे यथासमय उनके घर गये, परन्तु दरबान ने उन्हें निग्रो समझकर भगा दिया। कुछ दिनों बाद यह बात मालूम होने पर वे सज्जन स्वामीजी से क्षमा माँगते हुए बोले, "आपने अपना ठीक परिचय क्यों नहीं दिया?" स्वामीजी ने नाराज होकर कहा, "छी: छी:, दूसरों को छोटा करके बड़ा बनना? मेरा जन्म ऐसे कार्यों के लिए नहीं हुआ है।"

उनके उच्च आदर्श से प्रेरित होकर कुछ शिक्षित नर-नारियों ने उनके कार्य में सहायता करने हेतु संन्यास ग्रहण किया। वे लोग स्वामीजी से शिक्षा लेकर हिन्दू धर्म के प्रचार में लग गये। इन्हीं संन्यासी तथा संन्यासिनियों के ऊपर अपने अमेरिकी कार्य का भार छोड़कर १८९५ ई. के अगस्त में स्वामीजी धर्म-प्रचारार्थ इंग्लैण्ड गये।

इंग्लैण्ड के लोगों को भी समाचार-पत्रों के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका में हिन्दू धर्म के प्रचार की बात मालूम हो गई थी। अत: उनके वहाँ पहुँचते ही लोग उनके व्याख्यान सुनने का आग्रह दिखाने लगे। वहाँ लोग स्वामीजी पर इतने मुग्ध हुए कि वहाँ के पादरी लोग उनसे अपने चर्च में आकर सार्वभौमिक वेदान्त धर्म की व्याख्या करने का अनुरोध करने लगे। स्थानाभाव होने पर कुलीन महिलाएँ फर्श पर बैठकर असीम धैर्य के साथ उनके व्याख्यान सुना करती थीं।

वहाँ पर अनेक लोगों ने उन्हें गुरु के रूप में स्वीकार किया। मार्गरेट नामक एक शिक्षित महिला स्वामीजी के विश्व-कल्याणार्थ सर्वत्याग के महामंत्र में दीक्षित होकर, बाद में भारत चली आयीं और स्वामीजी से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर भगिनी निवेदिता के रूप में सुपरिचित हुईं। निवेदिता ने कलकत्ते के बागबाजार अंचल में एक बालिका विद्यालय की स्थापना कर, जीवन भर उनकी उन्नति के लिए परिश्रम करते हुए देहत्याग किया। सेवियर दम्पति ने भी स्वामीजी का शिष्यत्व स्वीकार कर अपना सर्वस्व भारत की सेवा में लगा दिया।

कुछ काल बाद पुन: अमेरिका लौटकर स्वामीजी ने वहाँ धर्मप्रचार के कुछ स्थायी केन्द्रों की स्थापना की और अपने कार्य में सहायता हेतु भारत से स्वामी अभेदानन्द और स्वामी सारदानन्द को बुला भेजा। उनका पत्र पाकर वे लोग अमेरिका आ पहुँचे और उनके निर्देशानुसार प्रचार-कार्य में लग गये।

काफी काल से विभिन्न देशों का भ्रमण तथा निरन्तर व्याख्यान देते देते स्वामीजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया। थोड़े दिन विश्राम करने की उन्हें विशेष जरूरत थी। अत: वे अपने गुरुभाइयों तथा शिष्यमण्डली पर प्रचार-कार्य का सम्पूर्ण भार सौंपकर अमेरिका से स्वदेश लौट चले।

मार्ग में उन्होंने इंग्लैण्ड में ठहरकर प्राध्यापक मैक्समूलर के साथ भेंट की। यूरोप के बड़े बड़े विद्वान्, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक उनके साथ वार्तालाप करके मुग्ध हो जाते। एक युवा भारतीय के लिए विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान-भण्डार पर अधिकार कर लेना कैसे सम्भव हो सका है – यह सोच वे लोग विस्मित रह जाते। तथापि उनका स्वभाव इतना सरल था कि वे स्वत: प्रवृत्त होकर कभी अपने ज्ञान का परिचय नहीं देते थे।

स्वामीजी एक दिन सुप्रसिद्ध जर्मन प्राध्यापक पॉल डॉयसन के घर बैठकर चर्चा कर रहे थे। मेज पर सद्य:प्रकाशित कविता की एक पुस्तक पड़ी हुई थी। स्वामीजी उसे उलटते-पलटते हुए उसे पढ़ने में इतने तल्लीन हो गये कि प्राध्यापक के कई बार विविध प्रकार के प्रश्न करने पर भी उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। पढ़ना हो जाने पर स्वामीजी को यह बात ज्ञात होने पर उन्होंने प्राध्यापक से क्षमा माँगी। प्राध्यापक को इस बात पर पूरा विश्वास नहीं हो रहा था कि स्वामीजी एकाग्रता के कारण ही उनकी बात नहीं सुन सके थे। बाद में वार्तालाप के दौरान जब स्वामीजी उसी पुस्तक से अविकल उद्धरण देने लगे, तब प्राध्यापक आश्चर्यचकित रह गये। तदुपरान्त स्वामीजी ने उन्हें अपने देश के मन:संयम विज्ञान का परिचय दिया।

सेवियर दम्पति और शीघ्रलिपिक गुडविन – इन तीन पाश्चात्य शिष्यों को साथ लेकर १८९९ ई. के अन्त में स्वामीजी इंग्लैण्ड से भारत की ओर रवाना हुए।

मार्ग में एक पादरी जबरन स्वामीजी के साथ तर्क करने लगा। पर दो-चार बातों में ही परास्त होकर वह हिन्दू धर्म की घोर निन्दा करने लगा। स्वामीजी ने देखा कि इसके साथ बातें करना व्यर्थ है। वे धीरे से उठे और अंग्रेज पादरी का गला पकड़कर किंचित् व्यंग्य और गम्भीरता के साथ बोले, "यदि तुमने दुबारा मेरे धर्म की निन्दा की, तो तुम्हें उठाकर समुद्र में फेंक दूँगा।" पादरी ने और कोई चारा न देख बारम्बार क्षमा माँगते हुए फिर कभी ऐसा दुष्कर्म न करने का वचन दिया। **मूर्खस्य लाठ्यौषधि:** – मूर्खों के लिए दण्ड ही दवा है।

१८९७ ई. की जनवरी में स्वामीजी भारत लौट आये।

❖ (क्रमश:) ❖

दुराग्रह का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

दुराग्रही कई प्रकार के होते हैं। कुछ लोग शराब पीने के कट्टर विरोधी होते हैं, तो कोई सिगरेट पीने के। कुछ लोग सोचते हैं कि यदि मनुष्य सिगार छोड़ दें, तो संसार में फिर से सत्युग लौट आयेगा। एक ऐसा व्यक्ति हो सकता है, जो लूटपाट करता हो, डाके डालता हो, पर शायद वह सिगरेट नहीं पीता। वह सिगरेट का कट्टर विरोधी बन जाता है और किसी को सिगरेट पीते देखकर केवल इसी कारण से उसकी तीव्र निन्दा करने लगता है। इसी प्रकार कोई दूसरा व्यक्ति दूसरों को ठगता फिरता है; उस पर किसी का विश्वास नहीं; कोई स्त्री उसके साथ सुरक्षित नहीं रह सकती। पर शायद वह दुष्ट शराब नहीं पीता; और इसलिए वह शराब पीनेवालों में कुछ भी अच्छाई नहीं देखता। वह स्वय जो इतनी दुष्टता करता है, उस पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। कोई हो सकता है शाकाहारी हो, वह मासाहारियों को घृणा की दृष्टि से देखता है। उसके मत में यदि सब लोग शाकाहारी हो जायँ, तो दुनिया की समस्याएँ निर्मूल हो जाएँगी, पर वह यह नहीं देखता कि शाकाहारी व्यक्तियों में ही कितने वंचक, रक्त चूसनेवाले और झगड़ा करनेवाले व्यक्ति होते हैं। वे मास नहीं खाते, पर छल-फरेब और लूट-खसोट के माध्यम से मनुष्यों का खून चूसते हैं। यही मनुष्यों की स्वाभाविक स्वार्थपरता और एकागीपना है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि शराब पीने या मास खाने की वकालत की जा रही है। यहाँ तो केवल दुराग्रह का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु ये उदाहरण दिये गये हैं।

स्वामी विवेकानन्द एक दिन अमेरिका के शिकागो शहर में धर्मकक्षा ले रहे थे। उसमें शिकागो की उन महिलाओं में से एक उपस्थित थी, जिन्होंने मिलकर मजदूरों के व्यायाम तथा संगीत की व्यवस्था करने के लिए एक सस्था बनायी थी। वह युवती ससार में प्रचलित बुराइयों की चर्चा कर रही थी। उसने कहा कि मैं उन्हें दूर करने के उपाय जानती हूँ। स्वामीजी ने पूछा, "तुम क्या जानती हो?" उत्तर में उसने पूछा, "क्या आपने 'हुल-हाउस' देखा है?" उस महिला की राय में उन लोगों द्वारा गठित यह 'हुल-हाउस' ससार की सभी बुराइयों को दूर करने का एकमात्र उपाय था। स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में यह दुराग्रह है, हठधर्म है। वे एक स्थान पर कहते हैं, "जब मैं छोटा था तो सोचता था कि दुराग्रह से कार्य में बड़ी प्रेरणा मिलती है, पर ज्यों ज्यों मैं वयस्क होता जा रहा हूँ, मुझे अनुभव होता है कि बात ऐसी नहीं है।"

विवेकानन्द के मतानुसार सौ में नब्बे दुराग्रहियों का या तो यकृत खराब होता है, या वे मन्दाग्नि अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित रहते हैं। वे कहते हैं कि धीरे-धीरे चिकित्सक लोगों को भी ज्ञात हो जायेगा कि दुराग्रह एक प्रकार का रोग है।

स्वामीजी की दृष्टि में दुराग्रहपूर्ण सभी सुधारों से अलग रहना ही बुद्धिमानी है। वे कहते हैं, "ससार धीरे-धीरे चलता ही जा रहा है, उसे उसी प्रकार चलने दो। तुम्हें इतनी जल्दी क्यों पड़ी है? अच्छी नींद सोओ और स्नायुओं को स्वस्थ मजबूत रखो; उचित प्रकार का भोजन करो और ससार के साथ सहानुभूति रखो।" दुराग्रही केवल घृणा ही अर्जन करते हैं। क्या मादक-द्रव्य-निषेध के वे दुराग्रही शराब पीनेवालों से प्रेम करते हैं? नहीं, दुराग्रही का दुराग्रह केवल इसलिए होता है कि वह बदले में स्वय के लिए कुछ पाना चाहता है। ज्योंही संघर्ष समाप्त हुआ, वह लूटने को आगे बढ़ जाता है। दुराग्रह का कारण होता है - अपने विश्वास को तर्क की कसौटी पर न कसना। दूसरे शब्दों में, दुराग्रह के पीछे मनुष्य का अन्धविश्वास होता है। मनुष्य में विश्वास ही नहीं है, युक्तिसंगत विश्वास होना चाहिए। यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य किया जाय, तो उसे पागल हो जाना पड़ेगा। विवेकानन्द एक स्त्री का उदाहरण देते हैं, जिसने उनके पास एक पुस्तक भेजी। उसमें लिखा था कि उसमें लिखी सभी बातों पर उन्हें विश्वास करना चाहिए। पुस्तक में बताया गया था कि आत्मा नामक कोई चीज नहीं है, किन्तु स्वर्ग में देवी-देवता हैं और उनमें से प्रत्येक के सिर में से ज्योति की एक किरण निकल कर स्वर्ग तक पहुँचती है। स्वामीजी कहते हैं कि उस स्त्री की धारणा थी कि उसे दिव्य प्रेरणा मिली है और वह चाहती है कि मैं भी उस पर विश्वास करूँ; और चूँकि मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, उसने कहा - 'तुम निश्चय ही बड़े खराब आदमी हो, तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं!" यही दुराग्रह है।

अंगद-चरित (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरो पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके पहले प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

'मानस' में कुछ चरित्र ऐसे हैं, जो साधना की दृष्टि से बड़े उपयोगी हैं और उनमें से एक है अंगद का चरित्र। इस चरित्र में कुछ उत्कृष्ट गुण हैं, तो उसके साथ कुछ कमियाँ भी हैं। परन्तु उनके चरित्र में निरन्तर विकास होता हुआ दिखाई देता है और वे क्रमश: अपनी कमियों से ऊपर उठते हुए भक्ति की चरम स्थिति तक पहुँचने में समर्थ होते हैं।

'मानस' के कुछ चरित्रों में उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं। वे सिद्धावस्था तथा परिपूर्णता के चरित्र तो हैं, हमारे लिए वन्दनीय तथा आदर्श तो हैं, परन्तु साधना में उन्नति के लिए जिस क्रम की आवश्यकता है, उन चरित्रों में उसका दर्शन नहीं होता। उन चरित्रों में कोई कमी नहीं होती, अपितु निरन्तर ज्ञान और भक्ति का उत्कर्ष ही दिखाई देता है। पर कुछ ऐसे पात्र भी हैं, जिनके चरित्र में गुण तथा दोषों रूपी ये दोनों ही पक्ष विद्यमान हैं। कागभुशुण्डिजी का चरित्र भी उनमें से एक है, जिसमें साधना की दृष्टि से क्रमिक विकास दीख पड़ता है।

अंगद के प्रारम्भिक चरित्र में कुछ कमियाँ हैं और वे उन कमियों को दूर करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। कागभुशुण्डि के चरित्र में भी यही विशेषता है कि वे एक ऐसी स्थिति से साधना आरम्भ करते हैं, जब उनमें अनेकों दोष विद्यमान हैं। पर इसके पश्चात् वे ऐसी स्थिति तक पहुँच जाते हैं कि कल्पान्त में भी उनका विनाश नहीं होता। उनकी गणना भगवान राम की भक्ति के महान् आचार्यों में की गयी है। उनके चरित्र से हम लोगों को आशा बँधती है। ऊँचे-चरित्रों को पढ़कर या सुनकर प्रसन्नता और आनन्द की अनुभूति तो होती है, परन्तु उसमें एक यह भय लगा रहता है कि इतनी ऊँचाई तो हमारे जीवन में नहीं है। इतने उत्कृष्ट विचार, इतनी उत्कृष्ट भावना तो हमारे जीवन में नहीं है। इससे एक प्रकार की निराशा आ सकती है कि चरित्र वन्दनीय-पूजनीय तो है, हम इसे पढ़कर आनन्द तो ले सकते हैं, परन्तु इसे अपने जीवन में ला पाना हमारे लिये सम्भव नहीं है। लेकिन जब हम ऐसे पात्रों के विषय में पढ़ते या सुनते हैं, जिनके चरित्र में हमारे ही समान अनेक त्रुटियाँ और कमियाँ विद्यमान हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे इन कमियों से मुक्त होते हैं, तब इसके द्वारा हम लोगों को भी यह आश्वासन मिलता है कि निराश होने की कोई बात नहीं है; जिस स्थिति को इन भक्तों या पात्रों ने अपने जीवन में पाया है, उसी मार्ग पर चलकर हम भी उसे पा सकते हैं। अंगद का चरित्र ठीक इसी प्रकार का चरित्र है।

इसीलिये गोस्वामीजी इन चरित्रों पर बड़ा बल देते हैं। 'विनय-पत्रिका' (२१४) में आप देखेंगे कि भगवान की कृपा का वर्णन करते समय वे उसके साथ बड़े-बड़े ऐतिहासिक पात्रों का नाम लेते हैं और अन्त में वे अपना नाम भी जोड़ देते हैं। भगवान की उदारता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं –

ऐसी कौन प्रभु की रीति?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।।१।।
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कुपालु जादवराई ।।२।।
काम मोहित गोपिकनि पर कृपा अतुलित कीन्ह ।
जगत-पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह।।३।।
नेम तें सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।
कियो लीन सु आप में हरि राज-सभा मँझारि ।।४।।
व्याध चित दै चरन मार्यो मूढ़मति मृग जानि ।
सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ।।५।।

– (प्रभु राम के सिवाय) अन्य किस स्वामी की ऐसी रीति है, जो अपने विरद के लिए पवित्र जीवों को छोड़कर पामरों से प्रेम करता हो? (उनके कृष्णावतार में) राक्षसी पूतना अपने स्तनों में विष लगाकर उन्हें मारने गयी थी, पर उन्होंने उसे माता-जैसी गति प्रदान की; काम-मोहित गोपिकाओं पर अतुल्य कृपा की; जगत् के पिता ब्रह्मा ने भी आपकी चरण-धूलि ग्रहण की; जो शिशुपाल प्रतिदिन नियमपूर्वक गिन-गिनकर गालियाँ देता था, आपने उसे राज्यसभा के भीतर ही स्वयं में विलीन कर लिया; मूढ़ व्याध ने मृग समझकर आपके चरणों में तीर मारा, उसे भी आपने अपनी दयालुता की आदत के अनुसार सदेह अपने लोक में भेज दिया; और ...

इस प्रकार पुरातन काल के बड़े पात्रों के नाम गिनाने के बाद अन्त में इस पद की समाप्ति वे अपने नाम से करते हैं –

कौन तिनकी कहै जिनके सुकृत अरु अघ दोउ ।
प्रगट पातक रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ।।६।।

– इस प्रकार जिन जीवों के पाप और पुण्य दोनों थे उनकी तो बात ही क्या, प्रत्यक्ष पापों के पुंज तुलसीदास को भी उन्होंने अपनी शरण में रख लिया है।

सुननेवाला कह सकता है कि ये पात्र तो बड़े पुराने युग के हैं, हम इनसे परिचित नहीं हैं; तब वे स्वयं को और हम सभी को आश्वासन देते हुए तत्काल याद दिलाते हैं कि अन्य लोगों में तो पाप और पुण्य दोनों रहे होंगे, पर आप लोग मेरी ओर दृष्टि डालिये। वे कहते हैं – "मैं तो साक्षात् पातक-पुँज ही था, पर मुझ जैसे व्यक्ति ने भी प्रभु की कृपा प्राप्त कर ली, तो किसी व्यक्ति को निराश होने की आवश्यकता नहीं है।"

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है – 'मानस' में दो प्रकार के पात्र हैं – बड़े उच्च चरित्रवाले सिद्ध पात्र और अंगद के समान ऐसे पात्र, जो विषय-परायण हैं। उनके जीवन में साधना और उसके बाद सिद्धि आती है।

अब अंगद के चरित्र के क्रमिक विकास पर चर्चा होगी। अंगद का चरित्र सर्वप्रथम किष्किन्धा-काण्ड में उस समय सामने आता है, जब भगवान श्री राघवेन्द्र बालि के ऊपर बाण चलाते हैं। उस प्रहार से बालि गिर जाता है और प्रभु आकर बालि के सामने खड़े हो जाते हैं। बालि भगवान को कुछ उलाहने देता है और कुछ प्रश्न करता है। भगवान बड़े कठोर शब्दों में बालि की भर्त्सना करते हैं और इसकी अन्तिम परिणति यह होती है कि बालि में सहसा एक परिवर्तन आता है तथा अपनी धृष्टता के लिए उनसे क्षमा माँगता है; भगवान की दया एवं करुणा की दुहाई देता है और तब भगवान की करुणा का रूप सामने आता है। भगवान बालि के मस्तक पर हाथ रख प्रस्ताव करते हैं कि वह जीवित रहे। परन्तु बालि बड़ी विनम्रतापूर्वक इस पुरस्कार को अस्वीकार कर देता है। बालि ने सोचा कि इस समय तो शरीर को त्याग देने में ही धन्यता है। लेकिन इसके साथ-ही-साथ बालि ने भगवान से कहा – प्रभो, एक रूप में तो मैं आपके धाम में जाकर मुक्ति के आनन्द का अनुभव करूँगा, परन्तु दूसरे रूप में सेवा का सुख भी पाना चाहता हूँ। इस तरह बालि ने अन्तिम क्षणों में ज्ञान और भक्ति – दोनो का सुख पा लिया। ज्ञान की चरम परिणति है, मुक्ति और भक्ति का चरम लक्ष्य है – भगवान की सेवा। इस तरह बालि जब मुक्त हो जाता है, तो वह ज्ञान का चरम फल पा लेता है और जीवन के अन्तिम क्षण में अपने पुत्र अंगद को बुलाकर उसे भगवान श्रीराम के हाथ में सौंपते हुए उनसे निवेदन करता है – प्रभो, आप अंगद का हाथ पकड़ लीजिए और इसे अपने चरणों में स्थान दीजिये, सेवा का सौभाग्य दीजिए –

यह तनय मम सम बिनय बल
कल्यानप्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर नर नाह
आपन दास अंगद कीजिये।। ४/१०/छं-२.

भगवान श्रीराम ने अंगद को स्वीकार किया। यह 'मानस' में आनेवाला अंगद का पहला चित्र है, परन्तु आप जरा इसकी पृष्ठभूमि पर गहराई से ध्यान दें। बालि के ऊपर प्रहार, उसके बाद बालि के प्रति प्रसन्नता और तदुपरान्त बालि द्वारा किया जानेवाला अंगद का जो समर्पण है, इसमें भी साधना के विकास का ही एक क्रम प्रस्तुत किया गया है।

बालि के स्वरूप से आप लोग परिचित होंगे। 'मानस' के प्रारम्भ में ही यह बताया गया कि प्रभु ने जब नर रूप में अवतार लेने का निर्णय किया और यह आश्वासन दिया – हे मुनियो, सिद्धो, देवताओ, आप लोग डरिये मत, हम मनुष्य का रूप धारण करके पृथ्वी का भार हरण करेंगे –

जनि डरवहु मुनि सिद्ध सुरेसा।
तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।। १/१८७/१

पर देवताओं पर इसकी प्रतिक्रिया जैसी होनी चाहिये थी, वैसी नहीं हुई। उन्होंने इसका अर्थ यह लगा लिया कि अब तो भगवान ने घोषणा कर दी है कि वे रावण का वध करेंगे, अत: कोई चिन्ता की बात नहीं है, अब हम चलकर स्वर्ग का भोग करें। देवताओं की इस मनोवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए गोस्वामीजी ने एक शब्द लिखा और उस एक शब्द में ही देवताओं का चरित्र हमारे सामने आ गया। गोस्वामीजी कहते हैं – देवता जब आकाशवाणी सुनकर लौटने लगे, तो –

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।। १/१८७/८

इस **तुरत फिरे** शब्द में ही देवताओं का चरित्र सामने आ गया। देवताओं और इन्द्र के सन्दर्भ में यह समस्या कई बार बड़े विचित्र रूप में आती है।

वाराणसी विद्या और ज्ञान का केन्द्र तो है, लेकिन परम्परा के तीव्र आग्रही लोगों की संख्या भी वहाँ कम नहीं है। उनका आग्रह तो कभी-कभी सीमा लाँघ जाता है। अभी दो वर्ष पहले की बात है। वहाँ 'मानस' का नवाह्न-यज्ञ हो रहा था। किसी युवा वक्ता ने वहाँ देवताओं के लिये कुछ निन्दा के वाक्य कह दिये। इस पर वहाँ पर बैठे हुए एक वयोवृद्ध सज्जन, जो एक उच्चकोटि के वैद्य तथा वक्ता भी हैं, ने तत्काल आयोजको को लिख भेजा कि इनका भाषण बन्द करवा दो। इसका कारण उन्होंने बताया कि यहाँ नवाह्न यज्ञ हो रहा है, जिसमें हम लोगों ने देवताओं की पूजा की है, उनका आवाहन किया है और कोई वक्ता मंच से देवताओं की निन्दा करे, तो इससे बढ़कर अपराध क्या हो सकता है? आयोजकों ने भी उसके प्रभाव में आकर उस वक्ता की वक्तृता रोक दी। बाद में वे युवक वक्ता बेचारे बड़े उदास होकर मुझसे मिलने आये। मैं उस सम्मेलन मे नही गया था, पर काशी में ही था।

जब उस युवक ने मुझे सारी बात बतायी, मुझे अपने देखे तथा पढ़े हुए और भी कई प्रसंगों की याद आ गयी, जहाँ देवताओं की निन्दा की गयी है। एक बड़े प्रसिद्ध विद्वान् ने लिखा कि गीता अवैदिक ग्रन्थ है, क्योकि उसमे वेदो की

महिमा को कम कर दिया गया है। उनका कहना है कि श्रीकृष्ण जब यह कहते हैं कि – **त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन (२/४५)** तो इसका अर्थ है कि श्रीकृष्ण की वेदों पर आस्था नहीं है। इसी आधार पर उन्होंने गीता को अवैदिक सिद्ध करने की चेष्टा की है। इसी प्रकार नवाह्न यज्ञ में जिन विद्वान् ने वक्ता की वक्तृता पर आपत्ति की उनका यह मानना है कि हमारे यज्ञो के मंत्रों में देवताओं की स्तुति है। इन्द्र की तो बहुत ही स्तुति की गयी है और यज्ञ के मुख्य वक्ता तो इन्द्र ही हैं, पर इस सन्दर्भ में उनका ध्यान 'मानस' के प्रसंगों पर नहीं गया। केवल 'मानस' ही क्यों, हमारे अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी यह बात आती है, परन्तु इसे सही दृष्टि से न समझ पाने के कारण ही ऐसा भ्रम होता है। श्रीमद् भागवत को ही उठाकर पढ़ लीजिए। उसमें भी आप ऐसी ही बात पायेंगे, पर उन सज्जन ने इसे वक्ता की त्रुटि मान ली। मैं तो एक ऐसे विद्वान् को भी जानता हूँ, जिन्होंने इसी आधार पर गोस्वामीजी को वेद-विरोधी सिद्ध कर दिया कि उन्होंने 'मानस' में यत्र-तत्र देवताओं तथा इन्द्र की निन्दा की है या हँसी उड़ायी गयी है।

वस्तुत: हमारे यहाँ जो निन्दा-प्रशंसा का क्रम है, उसके वास्तविक उद्देश्य को न समझ पाने के कारण ही ऐसी भ्रान्ति होती है। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि यदि हम मानते हैं कि यह सारी सृष्टि गुणों और दोषों से मिलकर बनी है, तो यही बात सबके साथ जुड़ी हुई है। जब किसी व्यक्ति में अनेक उत्कृष्ट गुण होते हैं, तो हम उन्हें वन्दनीय मानते हैं, उनकी पूजा करते हैं। यह तो ठीक है, पर इसके बावजूद जो उत्कृष्ट या वन्दनीय होता है, उसमें कोई कमी भी तो हो सकती है।

निन्दा और प्रशंसा दो प्रकार से की जाती है। एक तरह की निन्दा-प्रशंसा तो की जाती है द्वेष-राग या आसक्तिवश। जिसके प्रति आपका राग है, उसकी आप प्रशंसा करते हैं और वैसे ही जिसके प्रति हमारे मन में द्वेष या विरोध की भावना है, उसकी हम निन्दा करते हैं, परन्तु हमारी परम्परा के ये जो महान् ग्रन्थ हैं, इनमें जो निन्दा और प्रशंसा है, वह वस्तुत: व्यक्तिपरक नहीं है। 'मानस' में गोस्वामीजी ने कई प्रसंगों में लिखा है कि गुण-दोष मिथ्या हैं, पर जब उन्होंने सन्त के गुण और असन्तों के दोषों का वर्णन किया, तो किसी ने कहा – महाराज, यह तो आपकी बात स्वयं अपने आप कट गयी; एक ओर तो आप गुण-दोष का भेद ही मिथ्या बताते हैं और दूसरी ओर आप इतने विस्तारपूर्वक गुणों और दोषों का वर्णन करते हैं। ऐसा क्यों? इसका उत्तर आपको 'मानस' की उस पंक्ति में मिलेगा, जहाँ गोस्वामीजी कहते हैं – वस्तुत: ये जो गुण-दोष बताये गये हैं, उसका उद्देश्य यह है कि गुण को जानकर हम अपने जीवन में उसे ग्रहण करें, उनका संग्रह करें और दोषों को जानकर उसका परित्याग करें –

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने।
संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।। १/६/२

गुण-दोष का वर्णन केवल अपने गुण और दूसरों के दोष देखने के लिये के नहीं किया गया है, वह तो अपने ही जीवन में दोषों का त्याग और गुणों का संग्रह करने के लिये है। हमारे जीवन में तो उल्टा ही हो जाता है। दूसरों के दोष देखकर हम उनसे घृणा करने लग जाते हैं, उनकी निन्दा करने लग जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस विषय में हमारी दृष्टि भ्रान्त है, हम दूसरों का दोष देखते हैं, व्यक्ति को दोषी देखते हैं, पर यह नहीं देखते कि दूसरों का दोष-दर्शन करते हुए, निन्दा करते हुए हम स्वयं भी दोषों में लिपटे हुए हैं। वैसे ही हम गुणो की प्रशंसा तो बहुत करते हैं, पर गुणों को जीवन में लाने की चेष्टा नहीं करते। 'मानस' का तात्पर्य है कि – जब हम किसी का गुण देखते हैं, तो उद्देश्य केवल उन गुणों की प्रशंसा करना नहीं है, उद्देश्य तो उन गुणों को अपने जीवन में ले आना है। इसी प्रकार जब किसी पात्र के दोषों का वर्णन किया जाता है, तब उसका उद्देश्य भी यही रहता है कि यदि हमारे जीवन में दोष हों तो उसका परित्याग कर देना चाहिए।

ऐसी स्थिति में इन्द्र आदि देवता वन्दनीय हैं या निन्दनीय? इसका उत्तर यह है कि 'मानस' में इन्द्र आदि देवताओं की प्रशंसा भी की गयी है और निन्दा भी। इसका भी उद्देश्य वही है। बालि और अंगद के चरित्र को आप इसी पृष्ठभूमि पर देखें। देवता वन्दनीय क्यों हैं? क्योंकि हमारी मान्यता है कि जो पुण्यात्मा होते हैं, वे देवत्व को प्राप्त होते हैं। जो विश्व का श्रेष्ठतम पुण्यात्मा है, वे ही अपने समय में इन्द्र-पद को प्राप्त होते हैं। ऐसी मान्यता है कि जो व्यक्ति सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता है, उसे भविष्य में इन्द्र-पद प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि देवत्व पुण्य का परिणाम है और इन्द्र-पद पुण्य की पराकाष्ठा का परिणाम है। ऐसी स्थिति में पुण्य के साथ कुछ दोष भी होते हैं या नहीं? पुण्य में भी कुछ कमियाँ होती हैं या नहीं? बड़ी सीधी-सी बात है – जब कहा जाता है कि पुण्य से देवत्व प्राप्त होता है और उसके बाद स्वर्ग का जो वर्णन किया गया है, उसमें विस्तार से यही तो बताया है कि स्वर्ग में कितनी प्रचुर मात्रा में भोग सुलभ है; तो यह सब बताने का क्या अभिप्राय है? पुण्य के द्वारा व्यक्ति देवत्व को पाकर भले ही स्वर्ग के प्रचुर भोग प्राप्त कर ले, पर वस्तुत: देवत्व के द्वारा वह भोग को ही तो अपने जीवन का लक्ष्य बनाए हुए है। मर्त्यलोक में भोग के स्थान पर वह कोई उत्कृष्ट कर्म करके देवलोक में जाकर स्वर्ग के भोगों को भोगना चाहता है। ऐसी स्थिति में पुण्य चाहे जितना ऊँचा हो, जब उसमें भोग की वृत्ति छिपी हुई है और भोग के साथ जो समस्याएँ जुड़ी हुई हैं, वे स्वर्ग में भी आये बिना नहीं रहेंगी। इसीलिये हमारे शास्त्र बिना किसी संकोच के यह बात कह देते हैं कि

पुण्य से देवत्व प्राप्त होता है, पर इसके साथ एक अन्य वाक्य भी जुड़ा हुआ है – **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।** (गीता, ९/२१) आपने पुण्य के द्वारा भोग पाया, पुण्य की पूँजी समाप्त हुई और आप पुन: स्वर्ग से नीचे की ओर ढकेल दिये जायेंगे। इसका अभिप्राय यह है कि यह देवत्व भी उत्थान और पतन के क्रम से मुक्त नहीं है। देवत्व वन्दनीय है, परन्तु इस अर्थ में नहीं कि उसमें कोई कमी नहीं है। देवता निन्दनीय भी हैं और प्रशंसनीय भी। हमें बस इतना ही सावधान रहना है कि जहाँ तक वे वन्दनीय हैं, हम उनकी वन्दना करें, यह नहीं कि कहीं पर देवता की निन्दा कर दी गयी, तो हम उनकी पूजा करना ही बन्द कर दें।

जब चन्द्रमा पर पहले मनुष्य ने पैर रखा, तो किसी व्यक्ति ने उस समय एक लेख लिखा था। उसने लिखा कि अब चन्द्रमा की पूजा बन्द कर देनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य का पैर पड़ गया, अब चन्द्रमा वन्दनीय कहाँ रह गया। मुझे तो उस लेख को पढ़कर उस लेखक की बुद्धि पर तरस आया। अरे भाई, हम लोग तो पृथ्वी की पूजा करते हैं, जिस पर दिन-रात पैर रखकर चलते हैं। यह तो बड़ा विचित्र तर्क है कि चन्द्रमा पर पैर पड़ जाने से उसकी पूजा नहीं करेंगे।

देवता पूज्य हैं, पर पूज्यता के साथ यदि उनमें कोई कमी है, तो उसे भी बताना गीता, रामायण और भागवत का उद्देश्य है। देवता दोनों पक्षों को प्रगट करते हैं। देवत्व का वन्दनीय पक्ष तो सुन्दर है ही। जब देवताओं पर अत्याचार हुआ और व्याकुल होकर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की, तो उन्होंने प्रसन्न होकर घोषणा की कि वे अवतार लेंगे। यह देवताओं का बड़ा उत्कृष्ट और प्रशंसनीय पक्ष है। इसका अभिप्राय यह है कि देवता जब यह अनुभव करता है कि हम बुराई को मिटाने में समर्थ नहीं हैं, तो अन्त में उनकी दृष्टि भगवान की ओर जाती है और यही देवता का वन्दनीय पक्ष है। देवता और दैत्य में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि दैत्य न तो अपने आप में असमर्थता का अनुभव करता और न ईश्वर की ओर दृष्टि डालता है। पर देवत्व में जहाँ पर अपनी असमर्थता का भान है, अपनी कमी का ज्ञान है, वहीं पर दृष्टि भगवान की ओर चली जाती है। वे तत्काल ब्रह्मा के साथ मिलकर भगवान से प्रार्थना करते हैं और तब आकाशवाणी होती है। इससे बढ़कर साधना का उत्कृष्ट फल और क्या हो सकता है कि किसी की साधना से, प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान अवतार लेने की घोषणा करें। यह देवत्व का बड़ा उज्ज्वल पक्ष है, पर देवत्व का जो दुर्बल पक्ष है, वह भी समझ लेने योग्य है। उसके लिये गोस्वामीजी ने एक बड़ी सांकेतिक बात कही। बोले –

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना ।
तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ।। १/१८७/८

यहाँ **तुरत** शब्द का अभिप्राय यह है कि वे इतने उतावलेपन से स्वर्ग की ओर जाने लगे मानो कैसे जल्दी-से-जल्दी स्वर्ग पहुँचें। यदि वे शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे जाते, तो वहाँ **तुरत** शब्द जोड़ने की जरूरत नहीं थी। पर इस **तुरत** शब्द के द्वारा गोस्वामीजी ने उनकी मन:स्थिति को प्रगट कर दिया कि मानो वे हड़बड़ी में हों। यही देवताओं का दुर्बल पक्ष है। इसका रहस्य क्या था? यह कि प्रार्थना से भगवान प्रसन्न हो गये और रावण के वध करने का आश्वासन दिया। देवताओं को लगा कि भगवान ने तो कह दिया है कि वे रावण का वध करेंगे, अब हम लोग शीघ्र चलकर अप्सराओं का नृत्य देखें, विहार करें, अब हमें तो कुछ करना-धरना नहीं है। इसका अर्थ है कि भगवान की पूजा के बाद भी मन भोग की ओर ही लगा हुआ है। यह जो भोग की वृत्ति है, वह इस **तुरत** शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। उस भगवद्वाणी के आनन्द को छोड़कर तत्काल अगले ही क्षण स्वर्ग के भोग और विहार के लिये व्यग्र हो जाना, उसकी भोगासक्ति को ही प्रगट करता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस पुण्य के पीछे, उस देवत्व के पीछे, जो दुर्बलता है, भोग के प्रति जो तीव्र आसक्ति है, वह उनके इस **तुरत फिरे सुर** क्रिया के द्वारा प्रगट हो जाती है।

ब्रह्मा विवेक के देवता हैं। उन्होंने देवताओं को वापस बुलाया और बोले – आप लोग इतने उतावले होकर कहाँ भाग रहे हो? देवता बोले – "महाराज, अब तो हम लोग निश्चिन्त हो गये, क्योंकि भगवान ने तो कह ही दिया है कि हम अवतार लेकर रावण का वध करेंगे। हमारे जीवन का जो लक्ष्य था, वह तो पूरा हो गया।" ब्रह्मा ने कहा – तुम लोगों ने ध्यान से नहीं सुना। – क्या? – भगवान केवल इतना ही तो कह सकते थे कि हम रावण को मार देंगे, मिटा देंगे, परन्तु उन्होंने ऐसा तो नहीं कहा। रावण को मिटा देना भगवान के लिए कोई प्रयत्नजन्य कार्य थोड़े ही है। वे तो केवल संकल्प मात्र से ही रावण तथा समस्त राक्षसों को मिटा सकते हैं, परन्तु उन्होंने यह जो कहा कि हम अवतार लेकर रावण का वध करेंगे। तुमने उनकी इस बात पर ध्यान नहीं दिया और उनकी वाणी का दूसरा ही अर्थ ले लिया। भगवान ने यह अवश्य कहा कि हम तुम्हारी समस्या का समाधान करेंगे, पर उसमें उन्होंने एक वाक्य और जोड़ दिया है – तुम्हारे लिये हम नर का वेश धारण करेंगे –

तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ।। १/१८७/१

इसका अर्थ यह है कि उन्होंने रावण का विनाश ईश्वरीय पद्धति से न करके मानवीय पद्धति से करने का निर्णय किया है; इसलिये वे घोषणा करते हैं कि मैं मनुष्य का रूप लेकर रावण का विनाश करूँगा, इसका अभिप्राय क्या है? जो सिद्ध सत्य था, उसको साधन का सत्य बनाने के लिए ही भगवान नर का रूप लेनेवाले थे। ब्रह्माजी ने देवताओं पर व्यंग्य करते

हुए कहा – भगवान ने तो तुमसे कह दिया कि हम तुम्हारे लिए मनुष्य बनेंगे, पर तुम बताओ कि तुम क्या बनोगे? देवताओं ने कहा – महाराज, क्या हम लोगों को भी कुछ बनना पड़ेगा? ब्रह्मा ने कहा – समस्या ईश्वर की नहीं, तुम्हारी है; अत: जब ईश्वर नर बन रहा है, तो तुम कम-से-कम बानर तो बनो, तभी ठीक-ठीक मिलन होगा। ब्रह्मा बड़ा सूत्रात्मक आदेश देते हुए कहते हैं – बानर-देह धारण करो –

बानर तनु धरि धरि महि
हरि पद सेवहु जाइ ।। १/१८७

समस्या तुम्हारी ही है, इसलिए तुम बानर बनोगे। इस तरह से लोक-कल्याण की समग्रता के लिये ईश्वर और जीव के मिलन की ठीक-ठीक पद्धति यही होगी। इसके साथ ही वे एक सूत्र और भी जोड़ देते हैं। कहते हैं – बन्दर बनोगे तो पूरे बन्दर ही न हो जाना। बन्दर दोषयुक्त तो है ही, वह बड़ा कामी और भोगी होता है। ब्रह्माजी ने आदेश दिया – स्वर्ग से नीचे उतरो, भोगों का परित्याग करो, बानर शरीर धारण करो और भगवान के चरणों की भक्ति-सेवा करो। इसका अभिप्राय यह है कि पुण्य का उपयोग भोग में नहीं, भगवान की भक्ति में करो। इस प्रकार ईश्वर जब नर बने, तब ये विविध देवता बन्दरों के रूप में आते हैं।

यहाँ एक विचित्र संकेत आता है। हमारे यहाँ की पौराणिक परम्परा से तो आप लोग भलीभाँति परिचित हैं। अब देवताओं के बानर शरीर ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं होता कि वे देवता स्वर्ग में नहीं रह जाते। उनमें एक साथ अनेक रूप बनाने की क्षमता है। एक रूप में देवता अपने-अपने मूल रूप में अपने-अपने धाम में रहते हैं और अन्य रूप में वे किसी व्यक्ति या जो भी रूप धारण करना चाहें, उस रूप में रहते हैं। इसी लंका-युद्ध के बाद देवता दो रूपों में दिखाई दे रहे हैं। रावण मारा गया। देवता फूल बरसाते हुए भगवान श्रीराम को बधाई देने के लिये आये, पर वहाँ तो बड़ा विचित्र दृश्य था। भगवान बन्दरों से घिरे हुए बैठे उनसे विनोद कर रहे हैं। जब देवता आये, तो बन्दरों ने उन्हें भगवान के निकट पहुँचने के लिये मार्ग ही नहीं दिया। उन्हें दूर से ही खड़े होकर स्तुति करनी पड़ी। अद्भुत दृश्य है ! देवता तो भगवान से दूर हैं और बन्दर बिल्कुल पास में बैठे हुए हैं। उस समय देवता जो स्तुति करते हैं, उसमें एक वाक्य आता है, देवता भगवान से कहते हैं – प्रभो, हमारे देव-शरीर को धिक्कार है –

धिग जीवन देव सरीर हरे । ६/१११/छं-९

भगवान बोले – "क्यों? आप लोग देव-शरीर की निन्दा क्यों करते हैं? आप लोगों की इच्छा पूर्ण हो गयी, रावण की मृत्यु हो गयी, अब और किस बात की कमी है?" देवता बोले – नहीं महाराज, आपकी भक्ति के बिना अभी भी हम लोग भोग में डूबे हुए हैं, इसलिये हमें धिक्कार है –

तव भक्ति बिना भव भूलि परे ।। ६/१११/छं-९

पर इसके साथ अगले वाक्य में उन्होंने अपने ही दूसरे रूप की प्रशंसा करते हुए यह भी कहा – महाराज, धन्य तो ये बानर हैं, जो आपके समीप बैठे हुए प्रेमपूर्वक आपके मुख को निरख रहे हैं और हम दूर खड़े हुए हैं –

कृतकृत्य बिभो सब बानर ए ।
निरखंति तवानन सादर ए ।। ६/११/छं-८

मानो अपने ही एक रूप की स्तुति कर रहे हैं और दूसरे रूप की निन्दा। बानर के रूप में देवता ही हैं, पर उनकी वे प्रशंसा करते हैं। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि भोगी भगवान तक पहुँचकर भी उनसे दूर हैं और जो भगवान की सेवा में संलग्न हैं, वे उनके अत्यधिक निकट हैं।

इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पुण्य और सत्कर्म परम उत्कृष्ट वस्तु हैं, पर इसके साथ-साथ उसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुण्य और सत्कर्म के द्वारा हम जीवन में क्या चाहते हैं? पुण्य के द्वारा कोई व्यक्ति प्रशंसा चाहता है, कोई भोग चाहता है और कोई वैभव चाहता है। ऐसी स्थिति में जैसे आप अपने धन से चाहे जो वस्तु खरीदने में स्वतंत्र हैं, परन्तु क्या खरीदकर लायें, इसी में आपके विवेक की परीक्षा है; वैसे ही महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुण्य की पूँजी के द्वारा हमने क्या पाया? पुण्य की पूँजी से भोग भी मिल सकता है। रामायण में दोनों बातें कही गयी हैं – धर्म और पुण्य से सुख मिलता है –

सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता । ७/१०२/छं-१

और दूसरी ओर कहा गया है – अनेक पुण्यों के संग्रह के बिना सन्तों का सान्निध्य नहीं होता –

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता । ७/४५/६

पुण्य से सुख मिलता है और पुण्य से ही सन्त की भी प्राप्ति होती है। अब ऐसी स्थिति में यदि पुण्य के बदले भोग चाहते हैं, तो मूल्यवान वस्तु के बदले जो प्राप्त करना चाहिए था, वह नहीं लिया। उस पुण्य के द्वारा यदि हम सन्त का संग या भगवान की भक्ति चाहते हैं, तभी हम पुण्य का सच्चे अर्थों में सदुपयोग कर रहे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि देवत्व का जो संकेत है, वह यह बताने के लिये है कि यह जो सत्कर्म है या जिन्हें हम देवता कहते हैं, वन्दनीय मानते हैं, पूजा करते हैं, उस पूजा के साथ-साथ जो दोष पुण्य के साथ बने रहते हैं, उनसे भी हम सावधान रहें। रामायण में ऐसा ही हुआ है।

❖ (क्रमशः) ❖

वर्तमान का महत्त्व

स्वामी सत्यरूपानन्द

समय भूत और भविष्य में नहीं होता। समय केवल वर्तमान में ही होता है। जीवन का अस्तित्व समय से बाहर, समय से भिन्न और कहीं नहीं है। अत: जीवन भी वर्तमान में ही होता है। जीवन वर्तमान में ही जीया जा सकता है। जीवन के सुख-दुख वर्तमान में ही होते हैं। जीवन की सफलता-असफलता वर्तमान में ही होती है।

वर्तमान क्या है? आज और अभी यही तो वर्तमान है। यदि हमारा आज अच्छा है, तो आगामी कल भी अच्छा होगा। यदि हमारा आज अच्छा नहीं है, तो हमारा आगामी कल भी बिगड़ जायेगा। इतना ही नहीं, बीते हुए कल का अच्छा किया भी आज के अच्छे न होने से बिगड़ जायेगा।

इसक़ा अर्थ यह हुआ कि हमारे भूत और भविष्य का बनना-बिगड़ना हमारे वर्तमान के बनने-बिगड़ने से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। उससे जुड़ा हुआ है। अत: भूतकाल की भूलों को सुधारने तथा भविष्य का निर्माण करने के लिए भी हमें वर्तमान पर ध्यान देना होगा। वर्तमान को ही सुधारना होगा। उसका समुचित उपयोग करना होगा।

यह कैसे किया जाय?

इसके लिए सबसे पहले हमें वर्तमान के महत्व को समझना होगा। मन को यह ठीक ठीक समझा देना होगा कि आज और अभी के अतिरिक्त जीवन-निर्माण का, सुख-शान्ति एवं सफलता का, और कोई अवसर हमें नहीं मिलेगा, नहीं मिल सकता। हम जीवन में जो कुछ भी होना चाहते हैं, जो कुछ भी करना चाहते हैं, जो कुछ पाना चाहते हैं, उसका प्रारम्भ आज, अभी करें। बड़ी-से-बड़ी योजना, बड़े-से-बड़े कार्य का प्रारम्भ जब भी होता है, वह वर्तमान में ही होता है। कोई भी महान कार्य असंख्य छोटे छोटे कार्यों का ही सामूहिक परिणाम होता है।

एक बार वर्तमान के महत्व को हृदयंगम कर लेने पर भीतर से ही कार्य करने की प्रेरणा आने लगती है। इस प्रेरणा का तत्काल उपयोग कर लेना चाहिए। क्योंकि प्रेरणा भी वर्तमान में ही होती है। प्रेरणा को कार्य में परिणत करने पर ही वह सफल होती है, अन्यथा प्रेरणा भी भूतकाल का एक विचार या भाव बनकर व्यर्थ हो जाती है। उसकी स्मृति मात्र रह जाती है।

वर्तमान का सदुपयोग करने के लिए अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। लक्ष्य निर्धारित कर उसकी प्राप्ति के उपायों पर विचार कर उनके सम्बन्ध में भलीभाँति सभी आवश्यक सूचनाएँ एकत्र कर लेनी चाहिए। इतना हो जाने पर उन उपायों का क्रमबद्ध रूप से वर्गीकरण कर उन्हें छोटे छोटे कार्यक्रमों में विभाजित कर लेना चाहिए। यह विभाजन व्यावहारिक होना चाहिए। वर्तमान का सदुपयोग करने के लिए इस प्रकार का योजनाबद्ध विभाजन परम आवश्यक है।

एक बार सुनिश्चित योजना बन जाने पर कर्तव्य-कर्म की वह घड़ी उपस्थित होती है, वह स्वर्ण अवसर उपस्थित हो जाता है, जिसके सदुपयोग पर जीवन की सफलता निर्भर करती है। तथा जिसका सदुपयोग न कर पाने पर जीवन केवल अपूर्ण इच्छाओं – असफल योजनाओं की एक दुखान्त गाथा मात्र बनकर रह जाता है।

यह स्वर्ण अवसर है वर्तमान में कर्म करने का। अपनी सारी शक्ति के साथ कार्य में जुट जाने का, क्योंकि आज और अभी ही कार्य करने का अवसर है। आज का, अभी का हमारा कर्म ही हमारे भविष्य की उपलब्धि का, हमारे भविष्य की समृद्धि और सफलता का प्रथम सोपान है। आज के सोपान को पार करके ही हम आनेवाले उस कल के सोपान पर चढ़ने की योग्यता अर्जित कर सकेंगे, जो कल तभी हमारे सामने आयेगा, जब वह 'आज' बन चुका होगा।

अत: आज और अभी ही सुखी-समृद्ध और सफल जीवन जीने का सुअवसर है, आज और अभी ही हम सुख-शान्ति के अधिकारी हो सकते हैं। ❑ ❑ ❑

अनमोल बोल

* वह महान् है जो अपने मिट्टी के बरतनों को सोने-चाँदी के समझता है; पर वह व्यक्ति भी कम महान् नहीं है जिसके लिए अपने सोने-चाँदी के बरतन भी मिट्टी से अधिक कुछ नहीं हैं।

* सुख गुलदस्ता बनाने की वह कला है, जिसे अपनी पहुँच में आनेवाले फूलों से बनाया जाता है।

* जो शान्त मनवाला है, उसे भ्रमित या भयभीत नहीं किया जा सकता; सुदिन-दुर्दिन में वह समान रूप से तूफान में घड़ी के समान निरन्तर अपनी सहज चाल से चलता रहता है।

* हथौड़ा काँच को तो चूर-चूर कर देता है, परन्तु इस्पात को वांछित रूप प्रदान करता है; इसी तरह संकट हमारे ऊपर क्या प्रभाव डालेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि हमारे अन्दर क्या तत्त्व है।

* परमेश्वर से हमें खतरों से रक्षा करने की नहीं, बल्कि उनका सामना करने हेतु बल तथा निर्भयता प्रदान करने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

बुद्धकालीन भारत (३)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी का प्रस्तुत व्याख्यान अब तक हिन्दी में अप्रकाशित था। यह २ फरवरी १९०० ई. के दिन कैलीफोर्निया (अमेरिका) के पॅसाडेना नगर के शेक्सपियर क्लब में दिया गया था। स्वामीजी की आंग्ल ग्रन्थावली के तीसरे खण्ड से हम इसका अनुवाद प्रस्तुत कर रहे है – सं.।

वे मरणासन्न थे। उन्होंने मृत्यु को आते देखा और बोले, "इस वृक्ष के नीचे मेरे लिये कुछ बिछा दो, क्योकि लगता है कि अन्त सन्निकट है।" वे पेड़ के नीचे बैठे थे, लेट गये; वे और बैठे न रह सके। फिर पहला काम जो उन्होने किया, वे बोले, "चन्द के पास जाओ और कहो कि वह मेरे सर्वाधिक हितकारियों में से एक है, उसके भोजन से मैं निर्वाण को प्राप्त हो रहा हूँ।" और तब कई लोग उपदेश लेने को आये। एक शिष्य ने कहा, "इस समय पास न जाओ, प्रभु का देहावसान हो रहा है।" सुनते ही प्रभु ने कहा, "उन्हें अन्दर आने दो।" फिर कोई अन्य आया और शिष्य उन्हें अन्दर नहीं जाने दे रहे थे। पुनः उन्हें जाने दिया गया और तब देह त्यागते प्रभु बोले, "हे आनन्द, मैं मर रहा हूँ। मेरे लिये रोओ मत। मेरे बारे में सोचो मत। मैं तो चला गया। परिश्रम करके स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो। तुममें से हर एक वही है, जो मैं हूँ। मैं बस तुम्हीं लोगों में से एक हूँ। आज मैं जो कुछ हूँ, वह मैने ही बनाया है। प्रयास करके स्वयं को मेरे समान बना लो।..."

ये हैं बुद्ध के स्मरणीय शब्द – "केवल इसलिए विश्वास मत करो कि कोई पुरानी पुस्तक प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की गयी है। केवल इसलिए विश्वास मत करो कि तुम्हारे पिता ने कहा है कि तुम्हें इस पर विश्वास करना चाहिए। मात्र इसलिए विश्वास मत करो कि तुम्हारे जैसे अन्य लोग भी इस पर विश्वास करते हैं। सबकी जाँच करो, सबको परख कर देखो और तब विश्वास करो, और यदि तुम्हें लगे कि यह सबके लिये हितकर है, तो उसका सबके बीच वितरण करो।" और इन शब्दो के साथ तथागत ने अन्तिम साँस ली।

इस आदमी की प्रबुद्धता को देखो। कोई देवता नहीं; कोई देवदूत नहीं, कोई राक्षस नही – कुछ भी नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं; यहाँ तक कि मृत्यु के समय भी कठोर, प्रबुद्ध, मस्तिष्क का हर कोष परिपूर्ण और कोई भ्रान्ति नहीं। मैं उनके अनेक सिद्धान्तों से सहमत नहीं हूँ। आप भी नहीं होंगे। पर मुझे लगता है – अहा! उनकी शक्ति का एक कण भी यदि मेरे पास होता! विश्व में देखे गये प्रबुद्धतम दार्शनिक थे वे! इसके श्रेष्ठ तथा प्रबुद्धतम आचार्य! और वह व्यक्ति कभी अत्याचारी ब्राह्मणों की शक्ति के सामने भी नहीं झुका। वह आदमी कभी झुका नहीं, सीधे और सर्वत्र एक ही तरह का (आचरण) – दुखियों के साथ रोना, दुखियों की सेवा करना, गाते हुए लोगों के साथ गाना, शक्तिशालियों के साथ शक्तिशाली और सर्वत्र वही प्रबुद्ध और योग्य व्यक्ति।

इन सबके बावजूद यह भी सच है कि मैं उनके सिद्धान्त को समझ नहीं सकता। तुम्हें मालूम होगा कि आत्मा शब्द से हिन्दू जो कुछ समझते हैं, उन्होंने मनुष्य के भीतर वैसी किसी आत्मा के अस्तित्व से इन्कार किया। हम हिन्दुओं का विश्वास है कि मनुष्य के भीतर कुछ स्थायी भी है, जो अपरिवर्तनशील है, अनन्त काल से अस्तित्व में रहा है, अनादि तथा अनन्त है और हम उसे मनुष्य की आत्मा कहते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रकृति में भी कुछ स्थायी तत्त्व हैं (हम उसे ब्रह्म कहते हैं और वह भी अनादि-अनन्त है)। उन्होंने दोनों को ही अस्वीकार किया। उन्होंने कहा कि किसी वस्तु के स्थायी होने का कोई प्रमाण नही है। यह सब केवल एक परिवर्तन की समष्टि है, निरन्तर परिवर्तनशील चिन्तन की समष्टि को तुम मन कहते हो। ... मशाल निरन्तर घूम रही है। वृत्त एक भ्रम है। (या फिर नदी का दृष्टान्त लो।) नदी सतत चली जा रही है, प्रतिक्षण जल की एक नई राशि गुजर रही है, वैसे ही यह जीवन है, वैसे ही पूरा शरीर और वैसे ही पूरा मन है।

खैर, मैं इस सिद्धान्त को समझता नहीं – हम हिन्दू इसे कभी समझे नहीं। पर मैं इसके पीछे का उद्देश्य समझ सकता हूँ। अहा, वह महान् उद्देश्य! तथागत कहते हैं कि स्वार्थ ही इस जगत् का सबसे बड़ा अभिशाप है; हम स्वार्थी हैं और यही अभिशाप है, स्वार्थपरता का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। तुम (एक नदी के समान) गुजरती हुई – एक निरन्तर घटना हो। ईश्वर नही चाहिए, आत्मा नही चाहिए; अपने पाँव पर खड़े हो जाओ और भलाई के लिए ही भलाई करो – न दण्ड के भय से और न कही जाने के लोभ में। प्रबुद्ध और निःस्वार्थ होकर खड़े हो जाओ। उद्देश्य है – मैं भला करना चाहता हूँ, क्योंकि भला करना ही अच्छा है। अद्भुत! अद्भुत! उनकी तत्त्व-मीमांसा के प्रति मेरी जरा भी सहानुभूति नही है, परन्तु जब मैं उनकी नैतिक शक्ति के बारे में सोचता हूँ, तो मेरा मन ईर्ष्यालु हो उठता है। जरा अपने मन से पूछो तो सही कि तुममें से कौन उस व्यक्ति के समान योग्य और साहसी होकर घण्टे भर के लिये भी खड़ा रह सकता है; मै तो पाँच मिनट के लिये भी नही रह सकता। मैं कायर बन जाऊँगा और सहारा ढूढ़ूँगा। मैं दुर्बल हूँ – कायर हूँ और मैं इस अद्भुत पुरुष के विषय में सोचकर ही उत्साहित हो जाता हूँ। हम लोग उस शक्ति तक नहीं पहुँच सकते। उस शक्ति के जैसा जगत् ने कभी कुछ नहीं देखा और उनके समान और कोई शक्ति मेरे देखने में नहीं आयी। हम सभी जन्मजात कायर हैं। यदि हम अपने को बचा

पाते हैं (तो दूसरी किसी चीज की परवाह नहीं करते)। हमारे भीतर सर्वदा चरम भय है, चरम स्वार्थ है। हमारी अपनी स्वार्थपरता हमें परम कुख्यात कायर बना देती है; हमारी अपनी स्वार्थपरता हमारे भय एवं कायरता का मूल कारण है। पर उन्होंने खड़े होकर कहा, "भला करो, क्योंकि यह अच्छा है; इतना ही काफी है, और प्रश्न मत करो। यदि कोई किसी दन्तकथा, किसी कहानी या किसी अन्धविश्वास से प्रेरित होकर भलाई में प्रवृत्त होता है, तो ज्योंही मौका मिला वह फिर बुराई में लिप्त होगा। केवल वही व्यक्ति भला है, जो भलाई के लिए ही भलाई करता है और इसलिए कि वही उसका स्वभाव है।"

प्रभु से पूछा गया – "मनुष्य का क्या होता है?"

"सब कुछ – सब कुछ। परन्तु मनुष्य में होता क्या है? देह नहीं, आत्मा नहीं, अपितु चरित्र। और वही युग युग के लिये रह जाता है। वे सभी लोग, जो दिवंगत होकर चले गये, हमारे लिये अपना चरित्र छोड़ गये हैं, जो बाकी मानवता के लिये एक चिर-सम्पदा है और ये चरित्र कार्यशील हैं – सर्वदा कार्यशील हैं।" क्या बुद्ध, क्या नाजरथ के ईसा, जगत् उनके चरित्रों से परिपूर्ण है। अद्‌भुत सिद्धान्त है यह!

अब हम थोड़ा नीचे उतर आएँ – अभी तक हम लोग विषय पर ही नहीं पहुँचे हैं। (हँसी) आज शाम मुझे और भी काफी कुछ कहना है ...।

और तब उन्होंने क्या किया? उनकी कार्यप्रणाली, उनका संगठन। आज तुम्हारे पास चर्च की जो कल्पना है, यह उनकी देन है, वे संघ छोड़ गये। उन्होंने भिक्षुओं का संगठन किया और उन्हें एक संगठन का रूप दिया। यहाँ तक कि ईसा के पाँच सौ साठ वर्ष पूर्व पर्ची द्वारा गुप्त मतदान होता था। यथार्थ संगठन। संगठन रह गया, एक महान् शक्ति बन गया और उसने भारत और बाहर के देशों में महान् प्रचार-कार्य किया। फिर तीन सौ वर्ष बाद अर्थात् ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व शासकों में दिव्यतम महान् सम्राट् अशोक का आविर्भाव हुआ, जैसा कि तुम्हारे पाश्चात्य इतिहासकारों ने कहा है। वह व्यक्ति पूर्ण रूप से बुद्ध के विचारों में मतान्तरित हो गया और उन दिनों वह विश्व का महानतम सम्राट् था। उसके पितामह सिकन्दर के समकालीन थे और तभी से भारत यूनान के साथ और भी आन्तरिकता के साथ जुड़ गया था। ... मध्य एशिया में प्रतिदिन कोई-न-कोई शिलालेख मिल रहा है। बुद्ध, अशोक आदि के बारे में भारत भूल चुका था, परन्तु प्राचीन अक्षरों में खुदे स्तम्भ और शिलालेख विद्यमान थे, जिन्हें कोई पढ़ नहीं सकता था। कुछ मुगल सम्राटों ने घोषणा की थी कि यदि कोई उन्हें पढ़ दे, तो वे उसे लाखों रुपये देंगे, परन्तु कोई पढ़ नहीं सका। पिछले तीस वर्षों के दौरान वे पढ़ लिये गये हैं, वे सभी पाली भाषा में हैं।

पहला शिलालेख है – ".... ... ...।" और उसके बाद के शिलालेख में वे युद्ध की विभीषिका तथा दुःख का वर्णन करते हुए बताते हैं कि वे धर्म की ओर उन्मुख हो गये हैं। इसके बाद वे कहते हैं – "अब से मेरे वंशजों में से कोई भी दूसरी जातियों पर विजय के द्वारा महिमाशाली बनने की न सोचे। यदि उन्हें महिमा चाहिए तो वे दूसरी जातियों की सहायता करें, उन्हें विज्ञान और धर्म के शिक्षक भेजें। तलवार के बल से प्राप्त हुई महिमा कोई महिमा नहीं है।" इसके बाद तुम देखते हो कि वे कैसे, यहाँ तक कि सिकन्दरिया (मिस्र) को प्रचारक भेज रहे हैं। .... तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि इसके तत्काल बाद ही इस पूरे क्षेत्र में थेरापुटे, एसेनी आदि चरम शाकाहारी समुदायों का उदय हुआ। इन महान् सम्राट् अशोक ने मनुष्यों तथा पशुओं के लिये अस्पताल बनवाये। शिलालेखों से पता चलता है कि वे मनुष्यों तथा पशुओं के लिये अस्पतालों का आदेश देते हैं, उनका निर्माण कराते हैं। तात्पर्य यह है कि एक पशु जब बूढ़ा हो जाता है और यदि मैं इतना गरीब हूँ कि उसका पालन नहीं कर सकता, तो दया की दृष्टि से मैं उसे मार नहीं डालूँगा। ये अस्पताल लोक-अनुदान से चलाये जाते थे। (समुद्री) व्यापारी अपनी बिक्री का प्रति सैकड़ा कुछ दिया करते थे और वह सब अस्पताल को जाता था, अत: किसी को परेशानी नहीं होती थी। यदि तुम्हारे पास एक बूढ़ी गाय या अन्य कुछ है और उसे तुम रखना नहीं चाहते तो अस्पताल में भेज दो, यहाँ तक कि यदि तुम चूहे तक कुछ भी भेजो, वे उसे रखेंगे। बस हमारी महिलाएँ ही कभी कभी इन जानवरों को मारने की चेष्टा करती हैं। वे बड़ी संख्या में उन्हें देखने जाती हैं और तरह तरह के पकवान ले जाती हैं। कई बार तो इस अति-आहार से ही जानवर मर जाते हैं। उन्होंने घोषणा की कि पशु भी सरकार के उतने ही संरक्ष्य हैं, जितने कि मनुष्य। पशुओं को मारने की अनुमति क्यों दी जाय? कोई कारण नहीं। परन्तु उनका कहना है कि यहाँ तक कि भोजन के लिये भी पशु-वध निषिद्ध करने से पूर्व लोगों को हर प्रकार की शाक-सब्जियाँ उपलब्ध करायी जानी चाहिए। अत: उन्होंने हर तरह के वनस्पतियों का संग्रह करवाकर मँगवाया और भारत में उन्हें उगवाया; और इनके प्रचलन के साथ ही आदेश हुआ कि अब से जो भी किसी पशु को मारेगा, उसे सजा दी जायेगी। 'शासन' को शासन होना चाहिए, पशुओं को भी सुरक्षा मिलनी चाहिए। मनुष्य को अपने भोजन के लिये किसी गाय, बकरे या किसी अन्य प्राणी को मारने का क्या अधिकार है?

इस प्रकार बौद्ध धर्म भारतवर्ष की एक महान् राजनीतिक शक्ति बन गया। धीरे-धीरे यह महान् प्रचारतंत्र भी छिन्न-भिन्न हो गया। परन्तु उनकी प्रशंसा में यह कहना होगा कि उन्होंने धर्म-प्रचारार्थ कभी तलवार नही उठायी। बौद्ध धर्म के अलावा

दुनिया में और कोई धर्म नहीं था, जो बिना रक्त बहाये एक भी कदम आगे बढ़ सका हो – ऐसा कोई नहीं हुआ, जो केवल बुद्धि के बल पर लाखों लोगों को धर्मान्तरित कर सके। नहीं, नहीं, कभी नहीं। और यही चीज तुम फिलीपाइन में करने जा रहे हो। यही तुम्हारा तरीका है – तलवार के द्वारा धार्मिक बनाना। इसी का तुम्हारे पुरोहितगण प्रचार कर रहे हैं। उन्हें जीतो और कत्ल करना शुरू करो, ताकि उन्हें धर्म मिल जाय। धर्म-प्रचार का अद्भुत तरीका है यह !

तुम्हें ज्ञात होगा कि कैसे इन महान् सम्राट् अशोक का मतान्तरण हुआ था। ये महान् सम्राट् अपनी युवावस्था में उतने अच्छे नहीं थे। (उनका एक भाई था।) दोनों भाइयों में लड़ाई हुई और उस दूसरे भाई ने इन्हें हरा दिया। प्रतिशोध के रूप में सम्राट् इन्हें मार डालना चाहते थे। सम्राट् को पता चला कि उसने एक बौद्ध भिक्षु के पास शरण ली है। मैं तुम्हें बता चुका हूँ कि हमारे संन्यासी कैसे पवित्र होते हैं और हर कोई उनके पास नहीं जा सकता। सम्राट् स्वयं गये। उन्होंने कहा – "उस आदमी को मेरे हवाले कर दीजिये।" संन्यासी ने उपदेश दिया, "प्रतिकार की भावना बुरी है। क्रोध को प्रेम से जीतो। क्रोध को क्रोध से दूर नहीं किया जा सकता और न घृणा को घृणा से। क्रोध को प्रेम से जीतो। घृणा को प्रेम से दूर करो। बन्धु, यदि तुम एक बुराई का जबाब दूसरी बुराई से दो, तो तुमने पहली बुराई तो दूर ही नहीं की, बल्कि जगत् में एक और बुराई जोड़ दी।" सम्राट् ने कहा – "तुम्हारे जैसे मूर्ख के लिये वह सब ठीक है। उस आदमी के बदले क्या तुम अपना जीवन देने को तैयार हो?" "अवश्य, महाशय" – कहते हुए वे आगे बढ़ आये। सम्राट् ने अपनी तलवार निकालकर कहा, "तो तैयार हो जाओ।" और वह ज्योंही उस पर वार करने जा रहा था, उसकी दृष्टि उनके चेहरे पर पड़ी। उनकी पलकें एक बार भी नहीं झपकीं। सम्राट् रुक गये और बोले, "भिक्षु, मुझे बताओ तुम्हें यह शक्ति, पलक न झपकाने की यह शक्ति कहाँ से मिली?" और तब उन्होंने पुनः उपदेश दिये। सम्राट् बोले, "कहते रहिए भिक्षु, बड़ा अच्छा लग रहा है।" इस प्रकार वे भगवान बुद्ध के आकर्षण में आ गये।

बौद्ध धर्म में तीन चीजें थीं – स्वयं बुद्ध, उनका धर्म और उनका संघ। प्रारम्भ में तो यह बड़ा ही सहज था। जब आचार्यदेव दिवंगत हुए, तो उनकी मृत्यु के पूर्व उन लोगों ने पूछा – "हम आपके साथ क्या करें?" उत्तर मिला – "कुछ भी नहीं।" "आपके लिये हम कैसा स्मारक बनाएँ।" उन्होंने कहा, "चाहो तो एक छोटा-सा टीला बना देना या कुछ भी मत करना।" क्रमशः बड़े-बड़े मन्दिरों तथा हर तरह के ताम-झाम का आविर्भाव हुआ। उनके पूर्व मूर्तियों का उपयोग अज्ञात था। मेरा मत है कि सर्वप्रथम उन्हीं लोगों ने मूर्तियों का उपयोग किया। बुद्ध की और उनके पास बैठकर प्रार्थना करते हुए सभी सन्तों की मूर्तियाँ हैं। संघ के साथ-साथ यह सब ताम-झाम बढ़ता गया। फिर ये मठ समृद्ध हो गये। पतन का वास्तविक कारण यह है। संन्यास कुछ लोगों के लिये तो उत्तम है, परन्तु जब तुम इसका ऐसे ढंग से प्रचार करते हो कि सभी विचारवान नर-नारी समाज को त्याग देते हैं, जब तुम पूरे भारत को मठों से परिपूर्ण देखते हो, जिनमें से किसी-किसी में तो लाखों भिक्षु थे, कभी-कभी एक ही भवन में बीस हजार भिक्षु, विशाल भीमकाय भवन, ये मठ जो विद्या आदि के केन्द्र भी थे, सम्पूर्ण भारत में फैल गये – तो सन्तान उत्पादन के लिये, जाति की तारतम्यता बनाये रखने के लिये कौन बचा? केवल दुर्बल लोग। सभी सशक्त तथा ऊर्जावान मन के लोग बाहर चले गये। और तब ऊर्जा के अभाव में राष्ट्रीय अवनति का प्रादुर्भाव हुआ।

मैं तुम्हें इस अद्भुत भ्रातृभाव के बारे में बतलाऊँगा। यह महान् है। परन्तु सिद्धान्त और विचार एक चीज है और वास्तविक कार्यशीलता दूसरी। अहिंसा आदि का अभ्यास, विचार के रूप में बड़ा महान् है, पर यदि हम सभी सड़क पर जाकर अहिंसा का अभ्यास करें, तो नगर में बहुत कम बचा रहेगा। तात्पर्य यह कि विचार तो अच्छा है, परन्तु अभी तक इसके रूपायन का व्यावहारिक उपाय ढूँढ़ा नहीं जा सका है।

जहाँ तक रक्त का प्रश्न है, जाति में आनुवंशिकता जैसा कुछ है अवश्य। अब (समझने) का प्रयास करो – तुम लोग हब्सियों और रेड-इंडियनों से अपना रक्त क्यों नहीं मिलाते? प्रकृति ही तुम्हें ऐसा नहीं करने देती। यह अचेतन क्रिया जाति को बचाती है। यही थी आर्य लोगों की जाति-व्यवस्था। मैं यह नहीं कहता कि वे हमारी बराबरी के नहीं हैं। उन्हें वे ही विशेषाधिकार, सुविधाएँ और सब कुछ मिलना चाहिए। परन्तु हम जानते हैं कि यदि कुछ विशिष्ट जातियाँ मिश्रित हों तो उनमें गिरावट आएगी। आर्य और अनार्य के इस कठोर जातिभेद के बावजूद कुछ हद तक वह दिवार गिरा दी गई और दल-की-दल विदेशी जातियाँ अपने सारे विचित्र आचारों, प्रथाओं तथा अन्धविश्वासों के साथ भीतर आ गयी। इस पर गौर करो, यहाँ तक कि उनमें कपड़े पहनने तक की मर्यादा नहीं थी, मुर्दे आदि खाते थे। फिर इसके पीछे पीछे उनकी वस्तुपूजा, उनकी नरबलि, उनके अन्धविश्वास तथा उनकी पैशाचिकता भी आयी। उन्होंने इन्हें छिपाये रखा, कुछ वर्षों के लिये वे सभ्य रहे और बाद में उन्होंने यह सब बाहर निकाला। यह पूरी जाति के लिये पतनकारी था। और तब रक्त का मिश्रण आरम्भ हुआ, हर तरह के अमिश्रशील जातियों के बीच अन्तर्विवाह हुए। जाति का पतन हुआ। परन्तु लम्बी अवधि में इसका सुफल हुआ। यदि तुम निग्रो तथा रेड-इण्डियनों के साथ मिश्रण करो तो निश्चय ही यह सभ्यता पतित हो जायेगी। परन्तु सैकड़ों-हजारों वर्ष बाद इस मिश्रण

से एक महान्, सदा से भी अधिक सबल एक जाति निकलेगी; लेकिन इस समय तो उन्हें कष्ट उठाना पड़ेगा। ऐसा हिन्दुओं का विश्वास है और मुझे लगता है कि यह एक विचित्र विश्वास है; मुझे पता नहीं; मुझे इसके विपक्ष में कुछ कहना नहीं है, मुझे इसके विपक्ष में कुछ भी नहीं मिला है – उनका विश्वास है कि केवल एक ही सभ्य जाति थी और वह थी आर्य। जब तक वह अपना रक्त नहीं देती, कोई भी जाति सभ्य नहीं हो सकती। मात्र उपदेशों से काम नहीं होगा। आर्य किसी जाति को अपना रक्त देते हैं और तब वह सभ्य होती है। केवल उपदेशों से काम नहीं होगा। वे तुम्हारे देश के लिए एक उदाहरण हो सकते हैं। क्या तुम निग्रो जाति को अपना रक्त दोगे? इससे उन्हें उच्चतर सभ्यता मिलेगी।

हिन्दू जाति-प्रथा से प्रेम करते हैं। मैं नहीं जानता, शायद मुझमें भी उस अन्धविश्वास का थोड़ा लेश हो। मुझे तथागत के आदर्श से प्रेम है। अद्भुत है वह ! पर जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मुझे नहीं लगता कि उनकी प्रक्रिया बड़ी व्यावहारिक थी; और वह दीर्घ अवधि के दौरान भारतीय राष्ट्र के अध:पतन के महान् कारणों में से एक सिद्ध हुई। पर इसके फलस्वरूप वह अद्भुत मिश्रण सम्पन्न हुआ – जैसे तुम्हारे यहाँ एक व्यक्ति श्वेत या पीला है, जबकि दूसरा मेरे समान साँवला है। और जहाँ इन दोनों सीमाओं के बीच की सभी रंगोंवाली भाँति भाँति की अनेक जातियाँ – हर जाति अपने आचार-विचार और सब कुछ बरकरार रखते हुए – मिश्रित हो रही हैं। दीर्घकाल-व्यापी एक मिश्रण चल रहा है और निश्चय ही इस मिश्रण से एक महान् क्रान्ति आयेगी; परन्तु फिलहाल इस दैत्य को सोते रहना होगा। ऐसे समस्त मिश्रणों का यही फल होता है।

बौद्ध धर्म जब इस तरह अधोगति को प्राप्त हुआ, तब उसकी अवश्यम्भावी प्रतिक्रिया का उदय हुआ। सम्पूर्ण विश्व में केवल एक ही इकाई है। यह एक इकाई विश्व है। वैचित्र्य केवल दृष्टि में है। यह सब कुछ एक है। एकत्व का विचार, जिसे हम अद्वैत कहते हैं, भारत का विचार है। यह सिद्धान्त भारत में सर्वदा रहा है; जब कभी जड़वाद और नास्तिकता ने सब कुछ ध्वंस कर दिया, तब इसे पुन: लाया गया। जब बौद्ध धर्म ने हर तरह की विदेशी बर्बरता को – उनके आचार, प्रथाएँ आदि को भारत में प्रचलित करके सब कुछ ध्वंस कर डाला, तब एक प्रतिक्रिया हुई और इसका नेतृत्व किया एक तरुण संन्यासी (शंकराचार्य) ने। उन्होंने नये सिद्धान्तों के प्रचार, सर्वदा नये विचार सोचने तथा सम्प्रदाय गढ़ने के स्थान पर, वेदों को फिर लाकर पुनर्जीवित किया और इस प्रकार वर्तमान हिन्दू-धर्म प्राचीन हिन्दू-धर्म का एक सम्मिश्रण है, जिस पर वेदान्तियों का प्रभुत्व है। परन्तु देखो, एक बार जो मर जाता है वह पुन: जीवित नहीं होता, और हिन्दुओं के वे कर्मकाण्ड फिर जीवित नहीं हुए। तुम्हें यह सुनकर आश्चर्य होगा कि प्राचीन कर्मकाण्ड के अनुसार गोमांस न खानेवाला एक अच्छा हिन्दू नहीं है। विशेष अवसरों पर उसे एक बैल की बलि देकर उसे खाना पड़ता था। अब वह घृण्य हो गया है। भारतवासी परस्पर चाहे जितना भी मतभेद रखें, पर एक बात में सभी एकमत हैं – वे कभी गोमांस नहीं खाते। प्राचीन याग-यज्ञ तथा देवता – सभी जा चुके हैं; (परन्तु) आधुनिक भारत वेदों के आध्यात्मिक अंश को स्वीकार करता है।

भारत में बौद्ध धर्म ही पहला सम्प्रदाय था। सर्वप्रथम उन्हीं लोगों ने कहा, "हमारा ही एकमात्र रास्ता है। हमारे संघ में सम्मिलित हुए बिना तुम मुक्त नहीं हो सकते।" वे बोले, "यही सच्चा मार्ग है।" परन्तु हिन्दू-रक्त होने के कारण वे दूसरे देशों के समान पत्थर-दिल साम्प्रदायिक नहीं हो सके। कोई भी सदा के लिये गलत मार्ग पर नहीं रहेगा, तुम्हें भी मुक्ति मिलेगी। नहीं, नहीं! इस दृष्टि से उनमें काफी अधिक हिन्दू रक्त था। उनका हृदय इतना कठोर नहीं था, परन्तु तुम्हें उनके साथ सम्मिलित होना होगा।

परन्तु जैसा कि तुम जानते हो, हिन्दू विचार है – किसी को अपने से न जोड़ना। तुम जहाँ कहीं भी हो, वहीं से केन्द्र की ओर चलना प्रारम्भ कर सकते हो। ठीक है। इस हिन्दू धर्म में यह सुविधा है; इसका रहस्य यह है कि सिद्धान्तों और मतवादों का कोई अर्थ नहीं; तुम क्या हो, यही बात महत्त्वपूर्ण है। यदि तुम जगत् में उत्पन्न सभी सर्वोत्कृष्ट दर्शन-शास्त्रों पर चर्चा करो, पर यदि तुम्हारा आचरण मूर्खतापूर्ण हो, तो उनका कोई मूल्य नहीं, और यदि तुम अपने व्यवहार में अच्छे हो, तो तुम्हारे लिये अधिक सम्भावना है। ऐसा होने के कारण वेदान्तवादी सबके लिए प्रतीक्षा कर सकता है। वेदान्त कहता है कि केवल एक का ही अस्तित्व है, केवल एक ही सत्य है और वह है ईश्वर; जो सभी स्थान, काल, कारण और सब कुछ के परे है। हम कभी उसे परिभाषित नहीं कर सकते। वह क्या हैं, यह हम कभी नहीं बता सकते, केवल इतना ही है कि वह पूर्ण सत् है, पूर्ण ज्ञान है और पूर्ण आनन्द है; वही एकमात्र सत्ता है। तुममें, मुझमें, दीवाल में और सर्वत्र – सब कुछ में वही सत्य है। उसी के ज्ञान पर हमारा सारा ज्ञान निर्भर है; उसी की आनन्दमयता पर हमारे आनन्द निर्भर करते हैं; एकमात्र वही सत्य है। और मनुष्य जब इसका अनुभव करता है, तो जान लेता है कि "मैं ही एकमात्र सत्ता हूँ, क्योंकि मैं वह हूँ – मुझमें जो सत्य है, वह भी वही है।" अत: जब एक व्यक्ति पूर्णत: पवित्र, भला और सभी स्थूलताओं के परे हो जाता है, ईसा के समान जान लेता है, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" वेदान्तवादी के पास सबकी प्रतीक्षा करने के लिए धैर्य है। चाहे तुम जहाँ भी हो, यही सर्वोपरि है – "मैं और मेरे पिता एक हैं।" इसकी अनुभूति करो। यदि मूर्ति सहायक है,

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आचार्य रामानुज (२७)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर चेन्नै की जनता ने उनसे अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी वे धर्मप्रचार शुरू करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। वहाँ से उन्होंने बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुज के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। यह उसी के हिन्दी अनुवाद की अगली कड़ी है। – सं.)

विष्णुवर्धन

इधर श्री रामानुज ने श्रीरंगम के पश्चिम की ओर स्थित दूर तक फैले गहन वन में गुप्त रूप से आश्रय लिया और क्रमशः भक्तवृन्द भी उनके पास आने लगे। गोविन्द, दाशरथि, धनुर्दास आदि सबके आ पहुँचने पर, वे लोग दुर्गम वन से होकर पश्चिम की ओर चल पड़े। कहीं कृमिकण्ठ के गुप्तचर आकर उन्हें बन्दी न बना लें, इस भय से वे लोग निरन्तर दो दिन चलकर आखिरकार चोलराज्य की सीमा पर जा पहुँचे। इस दौरान उन्होंने कहीं आहार-निद्रा या विश्राम नहीं किया। खूब थके-मादे वे लोग विश्राम के लिये एक पहाड़ के नीचे बैठ गये। भूख, प्यास तथा अनिद्रा के कारण उनके चेहरों का रंग उतर गया था और हाथ, पैर तथा पूरे शरीर में पीड़ा हो रही थी। काँटों से भरे वन भूमि में चलते रहने के कारण उनके पाँवों में अनेक काँटे चुभ गये थे और तलवों में फफोले हो गये थे। वे सभी शिलाओं पर लेटकर प्रगाढ़ निद्रा में डूब गये।

उसी जगह चाण्डालों की एक बस्ती थी। अति निम्न जाति के होने पर भी, उन लोगों का मन सद्भाव से परिपूर्ण था। ब्राह्मणों को ऐसी हालत में निद्रित देख वे लोग अनायास ही समझ गये कि अत्यन्त संकटग्रस्त एवं क्लान्त होने के कारण ही ये लोग ऐसे प्रदेश में निश्चिन्त होकर निद्रासुख भोग रहे हैं। उन लोगों ने तत्काल विविध प्रकार के जंगली फल-मूल एकत्र कर निद्रित लोगों के पास रख दिये और सूखी लकड़ियों की ढेरी बनाकर उसमें अग्नि प्रज्वलित करने के बाद बड़ी सजगता के साथ भक्तिपूर्ण चित्त से उन लोगों के उठने की प्रतीक्षा करने लगे। थोड़ी देर बाद नींद खुलने पर श्री रामानुज तथा शिष्यगण काफी स्वस्थ महसूस कर रहे थे। उन्होंने देखा कि लगभग अस्सी हाथ की दूरी पर हाथ जोड़े कुछ चाण्डाल खड़े हैं और उनके पास फलों का ढेर तथा प्रज्ज्वलित अग्नि के साथ काठ का स्तूप रखा है, इससे वे समझ गये कि भगवान की कृपा से वे कुछ सत् स्वभाव के चाण्डालों की एक जंगली बस्ती में आ पहुँचे हैं। उन लोगों ने अविलम्ब निकट ही प्रवाहित निर्मल जलवाली नदी में स्नान किया, फलों को धोकर श्रीहरि को निवेदित किया और दो दिन उपवास के बाद फलों का आहार करते हुए आनन्द का अनुभव किया। यतिराज ने वहाँ थोड़ी देर विश्राम करते हुए उन चाण्डालों के साथ वार्तालाप करके जान लिया कि वे लोग चोलराज्य की सीमा पार कर चुके हैं। उन्होंने चाण्डालों को आशीर्वाद दिया और उनके मार्गदर्शन में दोपहर बीतने तक एक ब्राह्मण के घर जा पहुँचे।

गृहस्वामी घर से अनुपस्थित थे, पर उनकी साध्वी सहधर्मिणी चेलाम्बा ने अपने घर में अनेक वैष्वणों का समागम देखकर स्वयं को कृतार्थ माना और पति के न होने पर भी उनकी यथाविहित पूजा करने के बाद भोजन पकाने को रसोईघर में प्रवेश किया। गृहस्वामी श्री रंगदास ने भिक्षाटन से लौटने के बाद अनेक वैष्णव अतिथियों को देखकर असीम आनन्द का अनुभव किया। शीघ्र ही उनकी भक्तिमती पत्नी ने श्री विष्णु के लिए नैवेद्य तैयार कर लिया और अतिथियों को प्रसाद ग्रहण करने हेतु आमंत्रित किया। प्रायः तीन दिन अनाहार बिताने के बाद भर-पेट भगवान का प्रसाद पाकर सभी परम सन्तुष्ट हुए। वहाँ दो दिन विश्राम और श्री रंगदास तथा उनकी पत्नी को वैष्णव-मंत्र में दीक्षित करने के बाद सशिष्य श्री रामानुज ने उत्तर-पश्चिम की ओर यात्रा की।

वहाँ से उन्होंने चाण्डालों को विदा किया और सुबह श्री रंगदास के साथ निकलकर संध्या को वे लोग वह्नि-पुष्करिणी नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ भी दो दिन विश्राम करके उन्होंने श्री रंगदास को विदा किया और शिष्यों के साथ शालग्राम

पिछले पृष्ठ का शेषांश

तो मूर्तियों का स्वागत है। यदि एक महान् व्यक्ति की पूजा करने से तुम्हें सहायता मिलती है, तो उनकी पूजा करो। यदि मुहम्मद की पूजा तुम्हारी सहायता करती हो, तो वही करो। केवल सच्चे बनना होगा; और वेदान्ती कहता है कि यदि तुम सच्चे हो तो तुम निश्चय ही लक्ष्य तक पहुँचोगे। कोई भी नहीं छूटेगा। तुम्हारे हृदय में ही सारे सत्य निहित हैं और वह तब तक अध्याय-पर-अध्याय खोलता रहेगा, जब तक कि तुम इस चरम सत्य को जान न लोगे – "मैं और मेरे पिता एक हैं।" और मुक्ति क्या है? ईश्वर के साथ रहना। कहाँ? कहीं भी। यहीं, इसी क्षण। अनन्त काल का एक क्षण किसी भी अन्य क्षण के समान ही उत्तम है। यही वेदों का प्राचीन सिद्धान्त है। इसे पुनर्जागरित किया गया। बौद्ध धर्म भारत से लुप्त हो गया। यह भारत में उन लोगों की दया, उनके पशुओं आदि पर चिह्न छोड़ गया और एक छोर से दूसरे छोर तक – – वेदान्तवाद पुनः पूरे भारत पर विजय प्राप्त कर रहा है। ❖

नामक ग्राम में पहुँचकर वे परम तपस्वी आन्ध्रपूर्ण नामक ब्राह्मण के अतिथि हुए। आन्ध्रपूर्ण का भक्ति-वैराग्य देखकर और उनके विवाह-शृंखल में बद्ध न होने की बात जानकर श्री रामानुज ने उन्हें वैष्णव-मंत्र में दीक्षित करके अपना सहचर बना लिया। उसी दिन से आन्ध्रपूर्ण मनसा-वाचा-कर्मणा निरन्तर यतिराज की सेवा में निरत रहने लगे। वे छाया के समान अपने गुरुदेव के साथ लगे रहते, क्योंकि वे ही उन्हें अपने इष्टदेव तथा सर्वस्व के रूप में प्रतिभात होते थे ।

शालग्राम में कुछ दिन बिताने के बाद वे लोग नृसिंहक्षेत्र गये। वहाँ श्री रामानुज ने आन्ध्रपूर्ण के मुख से भक्तग्राम-निवासी एक परम भक्त के बारे में सुना और उन्हें देखने की इच्छा से वे शिष्यों के साथ वहाँ जा पहुँचे। पूर्ण नामक उन भक्त के पास एक दिन आतिथ्य ग्रहण करने के बाद वहाँ के राजा विट्ठलदेव का निमंत्रण पाकर वे उनसे भी मिलने गये। ये राजा बौद्ध-धर्मावलम्बी[1] थे और प्रतिदिन सहस्रों बौद्ध आचार्यों की सेवा करते थे। उनकी कन्या प्रेतग्रस्त हो जाने पर उन्होंने अनेक चिकित्सक बुलवाये, पर उससे कोई फल न होने पर बौद्ध आचार्यों की भी सहायता ली गयी। उन लोगों द्वारा भी राजकन्या का आरोग्य न हो पाने पर, जब विट्ठलदेव ने सुना कि पूर्ण के घर में पूर्वदेश से कुछ वैष्णव आये हुए हैं, तो उन्होंने कुछ पण्डितों से निमंत्रण भेजकर उन सबको राजभवन में बुलवा लिया। श्री रामानुज ने राजकुमारी को देखते ही उसे स्वस्थ कर दिया। इस पर विस्मित होकर विट्ठलदेव उनके प्रति विशेष भक्तिमान हो उठे। उन्होंने यतिराज के सम्मुख प्रणत होकर उनसे वैष्णवधर्म के बारे में सुनने की इच्छा व्यक्त की।

नित्य-जीवहितकामी, उभय-विभूतिपति, तेजपुंज-विग्रह, भक्ति-रस-परिप्लुत, सर्वलोक-चित्ताकर्षक, मधुर-स्वभाव, चार्वाक-शैल के लिए वज्रस्वरूप श्री रामानुज ने इतने सहजबोध्य व मनोहर उक्तियों के साथ उनके समक्ष धर्मव्याख्या की कि वे अपने निरीश्वर भाव का स्मरण कर बड़े दुखी हुए और उन्होंने बौद्ध आचार्यों को बुलाकर उन्हें यतिराज के साथ तर्क-विचार करने का आदेश दिया। सभी राजी हुए और उसी दिन एक महासभा बुलायी गयी। हजारों बौद्ध एकत्र हुए। इस महासभा में जब श्री रामानुज ने वैष्णवधर्म की व्याख्या प्रारम्भ की, तो कुछ दुष्ट बौद्ध विद्वानों ने उन्हें बाधित एवं अपमानित करने हेतु उपहास व अशोभनीय भाषा आदि नीच उपायों का आश्रय लिया। इस पर महाराजा की आज्ञानुसार उन्हें सभागृह से बहिष्कृत कर दिया गया। तब अन्य बौद्धों ने डरकर उन खोटे उपायों को छोड़ दिया और यतिराज ने अपनी धीर-गम्भीर वाणी में अपना सम्पूर्ण वक्तव्य सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया।

उनके मौन हो जाने पर बौद्धों के प्रधान पण्डित उनका प्रतिवाद करने को उठ खड़े हुए और वे वादी की युक्तियों का खण्डन छोड़कर सनातन धर्म पर कटाक्ष करते हुए ईश्वर के अस्तित्व में विश्वासियों की निन्दा करने लगे। इस पर विट्ठलदेव ने दुखी होकर कहा, "महात्मन्, इस पृथ्वी पर निन्दावाद के समान सुलभ और कुछ भी नहीं है। हम लोग आपके मुख से वही सुनने के लिए नहीं आये हैं। मेरी विशेष धारणा है कि आप परम विद्वान् हैं; अतएव हमारी प्रार्थना है कि आप सुलभ निन्दावाद त्यागकर दुर्लभ युक्तिपूर्ण वाक्यों द्वारा वादि-सिंह की तीक्ष्ण बुद्धि से उत्पन्न वादों का खण्डन करें; और यदि ऐसा करने में समर्थ न हों, तो फिर अपने मिथ्या धर्म को त्यागकर वैष्णव मत में दीक्षित हो जायँ।"

राजा के चित्त को श्री रामानुज की ओर आकृष्ट होते देख बौद्ध पण्डितों के मन में किंचित् भय का संचार हुआ। उनके चित्त में किसी भी युक्ति का स्फुरण नहीं हो रहा था। थोड़ी देर तक अपना प्रलाप करने के बाद वे अपने दल में विस्मय तथा वैष्णवों में हर्ष की वृद्धि करते हुए सहसा अपने आसन पर बैठ गये। उनकी बोलती बन्द हो गयी थी और चेहरे का रंग उतर चुका था। अन्य बौद्ध प्रतिवादियों ने भी थोड़ी देर तक अपना मत स्थापित करने का प्रयास किया, परन्तु सबने असफलतापूर्वक प्रथम विद्वान् के समान ही किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर मौन का आश्रय लिया। इस पर भक्त राजा ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा, "सभासदो, आप सबने प्रत्यक्ष रूप से देखा कि वैष्णवाचार्य के साथ तर्क में बौद्ध विद्वान् आज पूर्ण रूप से परास्त हो गये हैं। वे सभी यहाँ उपस्थित हैं, परन्तु उनमें से किसी में भी ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह अपने मत को स्थापित करते हुए निर्वाणोन्मुख बौद्ध-धर्म को पुनरुज्जीवित कर सके। ऐसी अवस्था में हमारा क्या कर्तव्य है? इन दोनों में कौन-सा मार्ग ठीक है? प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति यह स्वीकार करता है कि दुख की अपेक्षा सुख तथा अज्ञान की अपेक्षा ज्ञान ही सर्वदा प्रार्थनीय है। यदि यही निश्चित सिद्धान्त हो, तो फिर आइए, हम आज ही इन वैष्णवाग्रणी महानुभाव से सत्यधर्म में दीक्षित होकर स्वयं को कृतार्थ करें।"

सद्बुद्धि-परायण, परम उदार, प्रजा-वत्सल नरेश ने जब ऐसा आदेश दिया तो कुछ बौद्ध भिक्षुओं को छोड़ बाकी सबने एक स्वर में उनका अनुमोदन किया। उसी दिन सबने श्री रामानुज से दीक्षा प्राप्त की और वे स्वयं को परम भाग्यवान मानने लगे। जिन कतिपय बौद्धों ने राजा के आदेश का पालन नहीं किया, वे अपने प्रधान विद्वान् के नेतृत्व में उनके राज्य से प्रस्थान कर गये। राजा विट्ठलदेव को यतिराज से विष्णुवर्धन नाम मिला और उन्होंने सबको आदेश दिया कि अब से उन्हें इसी नाम से जाना जाय।

❖ (क्रमशः) ❖

१. प्रपन्नामृतम् ग्रन्थ (अध्याय-४७) में इन्हें बौद्ध बताया गया है, परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार ये होयसला राजा जैन-मतावलम्बी थे।

जीने की कला (७)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र मे सेवारत हैं। – सं.)

जटिल स्वभाव के माता-पिता

कुछ माता-पिताओं की धारणा है कि धमकी या शारीरिक दण्ड देकर और कटु तथा कठोर भाषा का प्रयोग करके गल्ती करनेवाले बच्चों को सुधारा जा सकता है। कुछ अन्य माता-पिता अपने बच्चों की उचित-अनुचित हर तरह की माँगों को पूरा करके उन्हें बिगाड़ डालते हैं। बहुत-से माता-पिता सोचते हैं कि एक बार विद्यालय में प्रवेश दिलाने के बाद उनका उत्तरदायित्व पूरा हो गया और वे बच्चों को उनके अपने भाग्य पर छोड़ देते हैं। कुछ माता-पिता अपने बच्चों के प्रति अप्रत्याशित व्यवहार करते हैं – कभी तो वे उन पर लाड़-प्यार की झड़ी लगा देते हैं और माँगते ही तत्काल पैसे दे देते हैं और दूसरे ही क्षण क्रोध के आवेश में उनकी किसी भी प्रकार की सहायता से इन्कार करके बच्चों के लिए एक पहेली बन जाते हैं। कुछ अन्य माता-पिता अपने बच्चों की उनके अधिक बुद्धिमान और चतुर सहपाठियों के साथ तुलना करते हुए उनकी कमियों पर हँसी उड़ाते हैं और इस प्रकार उनके मन को चोट और आत्मविश्वास को क्षति पहुँचाते हैं। बहुत-से लोग बच्चों के सामने ही उनके बड़ों, सम्माननीय माता-पिता तथा शिक्षकों को उनके सामने ही बुरा-भला सुनाते हुए उनकी कमियों की आलोचना करते हैं। कुछ अन्य लोग अपने बच्चों से असाधारण कृतित्व की अपेक्षा करते हैं और उनकी औसत उपलब्धि पर बुरी तरह निराश हो जाते हैं। माता-पिता के मन में उत्पन्न होनेवाले अन्धविश्वास, सौतेली माँ का दृष्टिकोण और निम्न जाति में पैदा होने की हीन-भावना, अहंकार, उद्धतता, राजनीतिक संघर्ष – ये सभी बच्चों के मनों पर विभिन्न प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

गाँधीजी ने कहा था, "उत्तम घर के तुल्य कोई विद्यालय नहीं और ईमानदार तथा सद्गुणी माता-पिता के समान कोई शिक्षक नहीं। आधुनिक उच्च विद्यालयों की शिक्षा ग्रामिण बालकों पर एक निरर्थक भार है। ये बच्चे कभी भी इसकी प्राप्ति नहीं कर सकेंगे और यदि उन्हें उत्तम गृह का प्रशिक्षण प्राप्त हो, तो उन्हें कभी इसका अभावबोध नहीं होगा।"

हमारी यह इच्छा स्वाभाविक ही है कि हमारे विद्यालय ऐसे उत्तम गृहों की कमी को कुछ हद तक पूरा करें। हमारी सरकार शिक्षा पर करोड़ों रुपये व्यय करती है। रूस की शिक्षा-संस्थाओं द्वारा बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य पर दिया गया महत्त्व विस्मयकर है। रूसी सरकार विघटित परिवारों से आये बच्चों की मानसिक समस्याओं के समाधान पर विशेष ध्यान देती है। इस निमित्त विद्यालयों में विशेष रूप से निर्मित कार्यक्रम चलाये जाते हैं। पर हमारे देश में आजीविका प्रदाताओं के जीवन का एकमात्र उद्देश्य पैसे कमाना या धन बटोरना भर है। इस तरह के परिवेश में भला कौन बच्चों की समस्याओं को समझने का प्रयास करेगा? और यदि कोई समझ भी ले तो उन्हें हल करने में मदद कौन करेगा? तब तक बच्चे आपात-विरोधी परम्पराओं तथा परिवेश का तनाव झेल चुके होंगे। उनके मानसिक स्वास्थ्य-रक्षा के कार्य की शुरुआत प्राथमिक स्कूल के स्तर से ही होनी चाहिये। सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के बच्चों के कल्याण हेतु विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। बाल-कल्याण में रुचि रखनेवाले, उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान देनेवाले, कर्तव्यपरायण, प्रेम तथा धैर्य से सम्पन्न शिक्षकों की इस कार्य में बड़ी आवश्यकता है। ऐसे शिक्षक हमें कहाँ मिलेंगे? यदि गुलाम शिक्षा देंगे, तो इस प्रक्रिया के फलस्वरूप केवल गुलामों का एक झुण्ड ही पैदा होगा।

नया क्षितिज

क्या इस स्थिति में सुधार लाना सम्भव नहीं है? निश्चय ही सम्भव है।

सामान्यत: अपने बचपन में कभी विशुद्ध प्रेम न पानेवाला व्यक्ति मानसिक पीड़ा का भोग करता है। दीर्घकालीन धैर्य और प्रेम का निर्मल-प्रवाह ही उसकी दशा में सुधार ला सकता है। तब उस व्यक्ति का जीवन आनन्द का स्रोत बन जाता है। उसके जीवन में एक नये युग की शुरुआत हो जाती है। पर प्रेम कोई बाजार में बिकनेवाली चीज नहीं है। यह बहुमूल्य है, परन्तु यह सर्वत्र विद्यमान है और हर किसी को इसकी जरूरत है। विशुद्ध प्रेम समस्त रोगों की अचूक दवा है। अगले अध्याय में हम बतायेंगे कि किस प्रकार प्रेम की शक्ति से इस बीमार विश्व को सुखमय स्वर्ग में बदला जा सकता है।

मनोचित्र

"जीवन भर इस बात पर बल देना आवश्यक है कि अपने मनोचित्रों के पीछे की भावनाओं की तीव्रता की मात्रा के अनुरूप ही हमें अनुभव प्राप्त होते हैं।" (हेराल्ड शरमन)

यदि आप निरन्तर दुर्घटना के विचारों में ही डूबे रहते हैं, तो आपके जीवन में दुर्घटनाएँ प्रारम्भ हो सकती हैं। यदि आप साँपों से आतंकित हैं, तो आपका साँपों से सामना हो सकता

है। यदि आप बीमारी से अत्यधिक भयभीत हैं, तो इससे कुछ रोगों को स्वयमेव निमंत्रण मिल सकता है। यदि आपको ऋणग्रस्त हो जाने का विचार सताता रहता है, तो सम्भव है कि आप ऋण लेने की बाध्यता वाली परिस्थिति में फँस जायँ। यदि आप भूत-प्रेतों तथा अलौकिक जीवों से भयभीत रहते हैं, तो आपको उनके बारम्बार दर्शन से परेशान होना पड़ सकता है। यदि आप अपमानित होने के भय से आशंकित रहते हैं, तो सम्भव है कि आपको अपमानित होना पड़ जाय। इन दुर्घटनाओं से बचने का सर्वोत्तम उपाय है कि ऐसे काल्पनिक दुर्भाग्यों के चिन्तन को दूर रखा जाय।

साँप के आक्रमण से अपनी रक्षा के उपाय सोचना और सर्पदंश के भय से आतंकित रहना – दो अलग चीजें हैं। रोगों से बचने का उपाय करना और रोगों से आक्रान्त होने के भय का चिन्तन करना – दो अलग चीजें हैं। अपमानजनक स्थिति से बचने का उपाय सोचना और सतत अपमान से आशंकित रहना – दो अलग चीजें हैं। भूत-प्रेतों के दुष्प्रभावों से मुक्त होना और उनके द्वारा सम्भावित हानि की कल्पना करना – दो अलग चीजें हैं। भयभीत रहना – वस्तुत: भयकारी वस्तु से बचने का बिना कोई उपाय किये केवल उनके निरर्थक चिन्तन में लगे रहना मात्र है। अपनी रक्षा करने का अर्थ है, उससे बचने या उपचार करने के लिए सजग प्रयत्न करना। सजग भाव से हम जो कुछ करते हैं वह हमें बुराइयों से बचाता है; और काल्पनिक भय हमें भयंकर कठिनाइयों में फँसा देते हैं।

निर्भय विजेता भय का ग्रास बना

एक बार वैज्ञानिक प्रवृत्ति तथा तथाकथित निर्भय स्वभाव वाले युवक ने अपने मित्रों की चुनौती स्वीकार कर ली। उसे आधी रात के समय नगर के बाहर स्थित कब्रगाह में जाकर उसके बीचो-बीच एक खम्भा गाड़ना था। वह युवक रात में कब्रों की खोज-बीन करके उनके भीतर भूत-प्रेत की मौजूदगी का सत्यापन करने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले निर्भय विजेता के रूप में सुविदित था। वह विश्वास के साथ अग्रसर हुआ। उसके पीछे-पीछे जानेवाले मित्र कब्रिस्तान के द्वार पर रुककर उसकी प्रतीक्षा करने लगे। वह युवक कब्रगाह में गया। मित्रों ने खम्भा गाड़ने की आवाज सुनी। और थोड़ी ही देर में सब कुछ शान्त हो गया। मित्रगण उस साहसी युवक की हिम्मत की प्रशंसा करने लगे। वे उसके लौटने की देर तक प्रतीक्षा करते रहे, परन्तु उन्हें एक बड़ा झटका लगने वाला था। मित्रों ने उसे पुकारा, पर कोई उत्तर नहीं मिला। पूर्वी क्षितिज पर प्रात:काल की अरुणिमा प्रकट होने लगी। युवकगण अपने मित्र की खोज में कब्रगाह में गये। वह जमीन पर पड़ा दिखाई दिया। जब मित्रों ने उसके पास जाकर उसे जगाने का प्रयास किया, तो पता चला कि उसका शरीर बर्फ के समान ठण्डा था। वह कई घण्टे पूर्व ही मर चुका था।

उन लोगों को शीघ्र ही उसकी मृत्यु का कारण ज्ञात हो गया। वह केवल भय से मर गया था। हुआ यह कि जमीन में खम्भा गाड़ते समय उसकी शाल का एक छोर भी खम्भे के साथ जमीन में गड़ गया। उसे इस बात का पता नहीं चला। हथौड़े-पर-हथौड़े प्रहार करके जब वह खम्भा गाड़कर वहाँ से चलने लगा, तो उसे लगा कि कोई उसे पीछे की ओर खींच रहा है। इस प्रकार उसे पीछे की ओर खींचनेवाला भूत के सिवा और कौन हो सकता था? वह भय के मारे ढेर हो गया।

खेद की बात यह है कि यदि उसने पीछे मुड़कर खींचने वाले को देखने का प्रयास किया होता, यदि उसे अपने भय का कारण ज्ञात हो जाता, यदि उसे खूँटे में फँसी अपनी शाल दिख जाती, तो उसकी जान न जाती। हमें अपने को आतंकित करनेवाले भय के कारणों और उसके सच्चे स्वरूप का विश्लेषण करने में सक्षम होना चाहिये। धीरज खोये बिना हमें उन भयों को जीतने का उपाय ढूँढ़ना है। कभी-कभी अपने को डरानेवाली स्थितियों का सामना करना हमारे लिए जरूरी हो जाता है। हमें सर्वशक्तिमान ईश्वर की शरण लेनी चाहिये, जो हमारे सारे भयों को नष्ट कर सकते हैं। हमें सच्चे हृदय से प्रार्थना करते हुए स्वयं को उनकी इच्छा के प्रति समर्पित हो जाना चाहिये।

भैरव के साथ निर्भय वार्तालाप

पंचवटी दक्षिणेश्वर का एक निर्जन स्थान है, जहाँ श्रीरामकृष्ण ने विविध साधनाएँ की थीं। उनकी अद्वैत-साधना के गुरु तोतापुरी परम निर्भय थे। उनकी निर्भयता के भाव को प्रदर्शित करनेवाली एक घटना है। एक बार गहरी रात के समय वे वहाँ धूनी जलाकर ध्यान में बैठने की तैयारी कर रहे थे। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। कभी-कभी झींगुरों और मन्दिर की ताखों में बैठे उल्लुओं की आवाज के सिवा कुछ भी सुनाई नहीं पड़ रहा था। हवा भी शान्त थी। सहसा पंचवटी की वृक्ष-शाखाएँ हिलने लगीं और मानव-सदृश एक भीमकाय व्यक्ति वृक्ष से नीचे उतरे तथा तोतापुरीजी की ओर आँखें गड़ाये धीरे-धीरे धूनी के पास आकर बैठ गये। उस मानव को देख विस्मित होकर तोतापुरी ने उसका परिचय पूछा। उत्तर मिला, "मैं देवयोनि भैरव हूँ; इस देवस्थान की रक्षा हेतु वृक्ष पर रहता हूँ।" उससे जरा भी भयभीत हुए बिना पुरीजी बोले, "ठीक है, तुम जो हो, मैं भी वही हूँ। तुम भी ब्रह्म के प्रकाश हो और मैं भी; आओ, बैठो, ध्यान लगाओ।" भैरव हँसते हुए हवा में विलीन हो गया। तोतापुरी इस घटना से जरा भी विचलित हुए बिना ध्यान करने लगे। अगले दिन उन्होंने श्रीरामकृष्ण को यह घटना बताने पर वे बोले, "हाँ, वे यहीं रहते हैं। मुझे भी कई बार उनका दर्शन मिला है। कभी-कभी उन्होंने मुझे भविष्य में होनेवाली कुछ घटनाएँ बतायी थीं।

तोतापुरी उन अलौकिक जीवों के सच्चे स्वरूप को जानते थे, इसलिए वे निर्भयतापूर्वक भैरव का सामना कर सके।

पर कुछ ऐसे दुर्बल हृदय के लोग भी होते हैं, जो अपनी कल्पना में ही विचित्र भूत-प्रेतों की सृष्टि करके उनसे पीड़ित रहते हैं। कल्पना के आधिक्य से होनेवाली ऐसी गड़बड़ियों से छुटकारा पाने में मनोचिकित्सक हमारी सहायता कर सकते हैं।

यदि कहीं भूतों से भेंट भी हो जाय, तो हमें उनसे डरने की जरूरत नहीं है। वस्तुत: वे हमें डराते नहीं हैं। बचपन में उनके बारे में सुनी हुई भयानक कहानियों के कारण ही हमें उनसे डर लगता है। हमें एक अन्य दृष्टि से भी इस समस्या को देखना चाहिये। भूत-प्रेत ऐसी जीवात्माओं को कहते हैं, जो भौतिक शरीर छोड़ने के बाद सूक्ष्म रूप में रहती हैं। यदि हम हाड़-मांसवाले मनुष्यों से नहीं डरते, तो फिर हमें इन अशरीरी भूत-प्रेतों से ही भला क्यों भयभीत होना चाहिये? हम अपने भय के कारण के विश्लेषण का प्रयत्न किये बिना बेकार ही परेशान हो जाते हैं। हम क्या, कहाँ और कैसे – जैसे प्रश्न पूछने को अग्रसर नहीं होते। स्पष्ट है कि वास्तविकता के बारे में हमारे अज्ञान के कारण ही भय आता है। भूत-प्रेतों से भयभीत रहनेवाले लोगों के भय को कुछ लोग यह कहकर खारिज कर देते हैं कि वह मानसिक दुर्बलता का शिकार है, या मनोविकार से ग्रस्त है, या अन्धविश्वासी है, आदि। ऐसे लोग भूत-प्रेतों के अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं। ये लोग भूत-प्रेतों को भ्रान्ति कह सकते हैं और बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले कहला सकते हैं। परन्तु ये लोग भयाक्रान्त लोगों को राहत नहीं पहुँचा सकते। उन्हें स्वयं भय के मूल का कोई ज्ञान नहीं होता और वे सर्वदा दूसरों से सुनी-सुनाई बातें तोतों की भाँति रटते रहते हैं कि 'भय तो केवल मनोवैज्ञानिक होता है' – इस प्रकार वे दूसरों के भय को तुच्छ मानते हैं। कोई भी रोगी ऐसे लोगों के समक्ष अपनी समस्याएँ, आशंकाएँ तथा चिन्ताएँ खोलकर नहीं रख सकता। भय के सच्चे स्वरूप को समझ लेनेवाले लोग ही दूसरों को भयमुक्त करने में मदद कर सकते हैं। वे ही भय को दूर रखना जानते हैं।

हतबुद्धि प्रेतात्माएँ

एक बार श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों को अपना एक विचित्र अनुभव बताया था। स्वामी सारदानन्द ने 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' नामक अपने ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है। एक बार भक्तिमती गोपाल की माँ के निमंत्रण पर अपने शिष्य राखाल (जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए) के साथ श्रीरामकृष्ण उनके घर गये। भोजन के बाद वे विश्राम कर रहे थे। थोड़ी देर बाद कमरे के एक कोने से कुछ दुर्गन्ध निकलने लगी। शीघ्र ही उस कोने से दो बीभत्स मूर्तियाँ प्रकट हुईं। उनके शरीर से अँतड़ियाँ लटक रही थीं और वे मेडिकल कॉलेज के संग्रहालय के रखे कंकाल के सदृश दिख रहे थे। वे विनयपूर्वक श्रीरामकृष्ण से बोले,"आप यहाँ क्यों आये हैं? कृपया यहाँ से चले जाइये। आपके दर्शन से हमें अपनी दशा का स्मरण हो आने के कारण बहुत कष्ट हो रहा है।" एक ओर तो ये प्रेतात्माएँ श्रीरामकृष्ण से चले जाने की विनती कर रही थीं और दूसरी ओर राखाल सो रहे थे। उन प्रेतों का कष्ट देखकर श्रीरामकृष्ण ने अपना बटुआ और झोला उठाया और चलने को तैयार हुए। तभी राखाल जाग गये और श्रीरामकृष्ण से पूछने लगे, "आप कहाँ जा रहे हैं?" श्रीरामकृष्ण बोले, "मैं तुम्हें बाद में बताऊँगा।" ऐसा कहकर उन्होंने राखाल का हाथ पकड़ा और गोपाल-की-माँ (जिनका भोजन तभी समाप्त हुआ था) से विदा लेकर नाव में जा बैठे। वहाँ श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बताया, "उस घर में दो भूत हैं, जो अँग्रेजों द्वारा फेंकी गयी हड्डियों को सूँघकर अपना पेट भरते हैं। अकेली उस घर में रहनेवाली वृद्धा को यह बताना मैंने उचित नहीं समझा।"

भूत-प्रेतों की अपनी समस्याएँ तथा पीड़ाएँ होती हैं। वे आपकी मदद पाने हेतु आपके सम्मुख प्रकट हो सकते हैं। उनकी मुक्ति के लिए प्रार्थना के बजाय यदि आप भय से आक्रान्त हो जाते हैं, तो भूत-प्रेत बड़े निराश हो सकते हैं। जैसे मनुष्यों में दुष्ट लोग होते हैं, वैसे ही उनमें भी दुष्ट भूत-प्रेत हो सकते हैं; परन्तु उनसे भयभीत होकर हम समस्या को और भी बदतर बना डालते हैं। हमें दृढ़ता के साथ उस स्थिति का सामना करना चाहिये। समस्या का मुकाबला करना सम्भव है। उसका मुकाबला करने के लिए साधन और उपाय भी हैं। हमें व्यर्थ ही घबड़ाना और परेशान नहीं होना चाहिये।

डटकर सामना करो

बात उन दिनों की है जब स्वामी विवेकानन्द एक परिव्राजक के रूप में भ्रमण कर रहे थे। एक बार वे वाराणसी में ठहरे हुए थे। वे दुर्गा मन्दिर से दर्शन करके लौटते हुए एक सँकरे रास्ते से होकर चल रहे थे, जिसके एक ओर दीवाल और दूसरी ओर एक बड़ा तालाब था। उस सँकरे मार्ग से होकर जाते समय उनके सामने बन्दरों का एक झुण्ड आ गया। वे उन पर झपट पड़े और विकट चीत्कार करते हुए उनके पाँवों से चिपटने लगे। उन्हें पास देखकर स्वामीजी मुड़कर भागने लगे। बन्दरों ने उनका पीछा किया। उनसे बच निकलने का कोई मार्ग न था। एक वृद्ध संन्यासी ने चिल्लाकर कहा, "ठहरकर सामना करो।" स्वामीजी ने पीछे मुड़कर उत्पाती बन्दरों का सामना किया। उन्होंने साहसपूर्वक बन्दरों की ओर देखा और बन्दर धीरे धीरे पीछे हटते हुए भाग निकले।

वर्षों बाद अपने न्यूयार्क के व्याख्यान में स्वामीजी ने इस घटना का उल्लेख करते हुए इससे प्राप्त शिक्षा की ओर संकेत किया था, "जीवन भर के लिए यह एक सीख है – जो कुछ भयानक है, उसका सामना करो, साहसपूर्वक उसका मुकाबला करो। जब हम जीवन की कठिनाइयों से भागना छोड़ देते हैं, तो उन बन्दरों की ही भाँति वे पीछे हट जाती हैं। यदि हमें स्वाधीनता अर्जित करनी है, तो यह हमें भागने से नहीं, बल्कि

प्रकृति पर विजय से प्राप्त होगी। कायर कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकता। यदि हम भय, कष्ट तथा अज्ञान को दूर करना चाहते हैं, तो हमें उनसे संघर्ष करना होगा।

भय को प्रश्रय न दो

एक अन्य महत्वपूर्ण घटना पर विचार करो, जिसमें स्वामी विवेकानन्द ने प्रचण्ड साहस के साथ एक भयंकर परिस्थिति का सामना किया था। यह घटना स्वामीजी की प्रथम इंग्लैड-यात्रा के दौरान घटी थी। एक बार जब वे अपनी एक अँग्रेज मित्र तथा मिस मूलर के साथ टहलते हुए एक खेत से होकर गुजर रहे थे तो एक क्रुद्ध साँड़ बड़ी उग्रतापूर्वक उन लोगों की ओर आया। अंग्रेज सज्जन दौड़कर पहाड़ी की दूसरी ओर के सुरक्षित स्थान पर पहुँच गये। मिस मूलर यथाशक्ति दौड़ीं और फिर आगे बढ़ने में असमर्थ हो भहराकर जमीन पर गिर पड़ीं। स्वामीजी ने यह सब देखा और साँड़ से उन्हें बचाने का और कोई उपाय न देख हाथ बाँधे उनके सामने तनकर खड़े हो गये और सोचने लगे, "तो, अन्तिम समय आ ही पहुँचा!" बाद में उन्होंने बताया था कि उस समय उनका मन यही हिसाब करने में लगा हुआ था कि साँड़ उन्हें कितनी दूर फेंकेगा। परन्तु वह जानवर कुछ कदम पूर्व ही सहसा ठहर गया और अपना सिर उठाकर निराश लौट गया।

ऐसा ही साहस स्वामीजी ने अपनी किशोरावस्था में भी दिखाया था, जब उन्होंने कलकत्ते की गलियों से अनियंत्रित होकर दौड़ते हुए एक घोड़े को सहज भाव से आगे बढ़कर पकड़ लिया था और इस प्रकार उसके साथ जुड़ी बग्घी में बैठी एक महिला की प्राणरक्षा की थी। स्वामीजी ने कहा था, "जब कभी संकट आता है, यहाँ तक की मृत्यु की सम्भावना होने पर भी मेरा मन शान्त, स्थिर और निर्भय रहता है।"

अपनी मनोदशा बताते हुए एक बार उन्होंने कहा था, "जिसने ईश्वर के चरण छू लिए हैं, उसके लिए कुछ भी भयप्रद नहीं होता।" यहाँ महाराष्ट्र के सन्त स्वामी रामदास की उक्ति का उल्लेख किया जा सकता है, "महापुरुष वे हैं जो स्वयं निर्भय हैं और दूसरों में भी भय का संचार नहीं करते।"

महापुरुषों से हमारा तात्पर्य उन लोगों से है, जिन्होंने सर्व-शक्तिमान ईश्वर या सर्वव्यापी आत्मा की अनुभूति कर ली है। इस अनुभूति के दो फल हैं – मनोबल तथा निर्भयता। सच्चे भगवद्भक्त तथा ज्ञानी लोग निर्भय होते हैं। यहाँ तक उनके सान्निध्य में आने पर पशु-पक्षी भी निर्भयता के भाव का अनुभव करते हैं। यदि हम श्रद्धा तथा दृढ़तापूर्वक उनकी शिक्षाओं का अनुसरण करें, तो हम भी निर्भय हो सकते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (२७)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

गधा और उसका खरीदार

एक व्यक्ति एक गधा खरीदना चाहता था। परन्तु उसे खरीदने के पहले वह उसकी परीक्षा कर लेना चाहता था। गधे का मालिक भी इसके लिए राजी हो गया। वह गधे को अपने घर ले गया और उसे अपने अन्य गधों के बीच छोड़ दिया। यह नया गधा बाकी सबको छोड़कर उस गधे के पास पहुँचा, जो उनमें सबसे बड़ा आलसी और खाने में भुक्खड़ था।

यह देख अगले दिन उस व्यक्ति ने गधे के गले में रस्सी डाली और उसे वापस करने उसके मालिक के पास ले गया। यह पूछे जाने पर कि कैसे उसने इतने कम समय में उसे परख लिया, उस व्यक्ति ने बताया, "मुझे ज्यादा जाँच-पड़ताल की जरूरत नहीं पड़ी; मैं समझ गया कि वह भी वैसा ही होगा जैसा कि उसने मित्र चुना है।"

व्यक्ति जैसी संगति करता है, उसी से उसके चरित्र का आकलन किया जा सकता है।

गड़ेरिया और उसकी भेड़ें

एक गड़ेरिया एक जंगल में अपनी भेड़ें चराते हुए चला जा रहा था। जंगल के बीच उसने फलों से लदा हुआ एक बहुत विशाल ओक का वृक्ष देखा। उसने वृक्ष के नीचे अपनी चादर बिछा दी और ऊपर चढ़कर वृक्ष की डालियों को हिलाने लगा। नीचे फैले हुए फलों को खाती हुई भेड़ों ने अनजाने में ही नीचे बिछी हुई चादर को रौंद और फाड़ डाला। गड़ेरिये ने जब नीचे उतरकर अपने चादर की दुर्गति देखी, तो खेदपूर्वक वह बोल उठा, "अहा, तुम कृतघ्न पशुओ, एक ओर तो तुम लोग दुनिया भर के लोगों के लिए वस्त्र बनाने को ऊन मुहैय्या कराती हो और दूसरी ओर अपने खिलाने वाले के वस्त्रों को ही नष्ट कर देती हो।"

कौआ और लोमड़ी

भूख से त्रस्त एक जंगली कौआ एक अंजीर के पेड़े पर बैठा था। उस वृक्ष पर बिना मौसम के ही कुछ फल आ गये थे। वह इस आशा के साथ प्रतीक्षा कर रहा था कि अंजीर पक जायेंगे। एक लोमड़ी ने उसे इस प्रकार बड़ी देर तक बैठे हुए देखा और उसके बैठने का कारण समझकर बोली, "भाई, तुम सचमुच ही अपने आपको धोखा दे रहे हो। तुम एक ऐसी आशा पाल रहे हो, जो कभी फलदायी नहीं होगी।"

व्यक्ति के अधिकांश दु:खों का कारण उसकी अपूरणीय आशाएँ ही हैं।

दो थैलियाँ

कहते हैं कि हर व्यक्ति इस संसार में जब आता है, तो उसके गले से दो थैलियाँ लटकती रहती हैं। उसके सामने लटकती थैली में उसके पड़ोसी के दोष भरे होते हैं और दूसरी बड़ी थैली उसके पीछे की ओर लटकती रहती है, जिसमें उसके अपने दोष भरे होते हैं। यह कारण है कि व्यक्ति दूसरों के दोष तो बड़ी जल्दी देख लेता है, परन्तु अपनी भूलें कभी उसके ध्यान में नहीं आतीं।

कुतिया और उसके बच्चे

एक कुतिया ब्याने को थी। उसने एक गड़ेरिये से बच्चे जनने के लिए थोड़ी-सी जगह देने का अनुरोध किया। उसका अनुरोध स्वीकृत हुआ। बच्चे जनने के बाद उसने उन्हें वहीं पर उन्हें पाल-पोसकर बड़े करने की अनुमति माँगी। गड़ेरिया फिर राजी हो गया। कुतिया के बच्चे धीरे-धीरे बड़े हो गये और उनके सहयोग से अब उसने दावा किया कि इस स्थान पर उसका पूर्ण अधिकार है और गड़ेरिये को वहाँ आने की अनुमति नहीं है।

पाँव जमाने का मौका पाते ही व्यक्ति अधिकार का दावा करने लगता है।

कुत्ते और चमड़े

भूख से त्रस्त कुछ कुत्तों ने देखा कि गाय के अनेक चमड़े नदी के जल में डुबाकर रखे हुए हैं। उनके पास तक पहुँच पाना असम्भव जानकर उन लोगों ने निर्णय किया कि नदी के पानी को ही पीकर उसे सुखा डालेंगे। पर चमड़ों तक पहुँचने के काफी पहले ही उनके पेट फट गये और वे मर गये।

असम्भव चीजों के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है।

उल्लू और झिंगुर

उल्लू रात में शिकार करते हैं और दिन में सोया करते हैं। एक दिन सोने के समय एक उल्लू ने पाया कि एक झिंगुर की निरन्तर आवाज से उसकी नींद में बाधा आ रही है। उसने विनयपूर्वक झिंगुर से आवाज को बन्द कर देने का अनुरोध किया। परन्तु झिंगुर भला कहाँ सुननेवाला था! वह और भी जोर-जोर से आवाज करने लगा। उल्लू ने जब देखा कि उसके अनुरोध का उल्टा ही फल हुआ है, तो उसने टिड्डे से निजात पाने का एक उपाय सोच निकाला। उसने झिंगुर से कहा, "अहा, आपका संगीत कितना मधुर है! इसके सामने

तो नारद की वीणा भी तुच्छ लगती है। आपके मधुर संगीत के कारण मेरी नींद ही उड़ गयी है। मैं इस आनन्द में वृद्धि करने हेतु देवताओं द्वारा प्रदत्त मधु पीने जा रहा हूँ। आपको यदि आपत्ति न हो, तो आप मेरे घर आ जाइये और हम साथ बैठकर इसका पान करेंगे। अपनी बड़ाई किसे अच्छी नहीं लगती! उल्लू के मुख से अपने संगीत की प्रशंसा सुनकर टिड्डा गद्‌गद हो गया और प्यास से उसका गला भी सूख रहा था, इसलिए बड़ी व्यग्रता के साथ वह ऊपर की ओर उड़ गया। उल्लू अपनी कोटर से बाहर निकला और उसे पकड़कर मार डाला। अब वह निश्चिन्त भाव से सो सकता था।

मूर्खों को सीधी बातों से समझाया नहीं जा सकता।

बन्दर और ऊँट

जंगल के पशुओं ने वन-महोत्सव का आयोजन किया था, जिसमें बन्दर ने खड़े होकर अपना नृत्य पेश किया। पूरी सभा आनन्द से उत्फुल्ल होकर तालियाँ बजाने लगी। अपना कार्यक्रम समाप्त करके बन्दर वापस जाकर बैठ गया। उसे इस प्रकार सम्मानित होते देख ऊँट के मन में ईर्ष्या हुई। उसने भी दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा से सभा का मनोरंजन करने हेतु अपना नृत्य दिखाने की इच्छा व्यक्त की। आयोजकों की स्वीकृति पाकर वह इतने भौंड़े ढंग से नाचने लगा कि सभी जानवर नाराज होकर हाथ में डण्डे लिए उस पर पिल पड़े और उसे सभा से बाहर खदेड़ दिया।

श्रेष्ठ लोगों की नकल करने का प्रयास मूर्खता है।

किसान और सेव का पेड़

एक किसान के खेत में सेव का एक वृक्ष था, जिस पर कोई फल नहीं लगते थे, परन्तु उस पर छोटे पक्षियों तथा कीड़े-मकोड़ों का बसेरा बना हुआ था। किसान ने पेड़ को काट डालने का निश्चय किया। वह अपनी कुल्हाड़ी ले आया और उसने वृक्ष की जड़ पर एक जोर का प्रहार किया। पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े वृक्ष को न काटने का अनुरोध करने लगे और उन सबने वादा किया कि वे इसके बदले संगीत सुनाकर उसकी थकान को मिटाने में सहायता किया करेंगे। पर किसान ने एक न सुनी और वह अपनी कुठार से वृक्ष पर प्रहार करता रहा। इस प्रकार प्रहार करते हुए उसकी कुल्हाड़ी जब वृक्ष में स्थित एक खोखले कोटर पर पड़ी, तो उसमें से मधु का फव्वारा निकल पड़ा। उस खोखले में एक बहुत बड़ा मधुकोष बना हुआ था। मधु को चखने के बाद उसने अपनी कुल्हाड़ी को एक ओर फेंक दिया और वृक्ष को अत्यन्त पवित्र मानकर उसकी सेवा में लग गया।

प्राय: लोग दूसरों की सुख-सुविधा की परवाह नहीं करते, पर अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने को तत्पर रहते हैं।

दो सैनिक और डाकू

दो सैनिक एक साथ ही यात्रा पर निकले थे। मार्ग में उनकी एक डाकू से मुठभेड़ हो गयी। उनमें से एक सैनिक सिर पर पाँव रखकर भाग निकला, परन्तु दूसरे ने मैदान नहीं छोड़ा और अपने बाहुबल से डाकू का सामना करता रहा। कुछ काल तक चले युद्ध के उपरान्त डाकू के मर जाने पर भगोड़ा साथी लौट आया और उसने अपना लबादा उतारकर एक किनारे फेंका और हाथ में तलवार लिए कहने लगा, "मैं उसे सबक सिखा दूँगा। अब उसे पता चल जाएगा कि उसने किस पर हमला करने की जुर्रत की है।" इस पर डाकू से लड़नेवाला सैनिक बोला, "काश, तुमने कुछ समय पहले मेरी सहायता की होती, भले ही इन शब्दों के द्वारा ही, क्योंकि तब मैं उन्हें सत्य मानकर उनसे उत्साह ग्रहण करता; परन्तु अब अच्छा यही होगा कि तुम अपनी तलवार म्यान में रखो और अपनी निरर्थक बकवास बन्द करो। ऐसी बातों से तुम उन्हीं को धोखा दे सकते हो, जो तुम्हें नहीं जानते। मैंने तो देख लिया है कि तुम कितने तीव्र वेग से भाग सकते हो, अत: मैं भलीभाँति जानता हूँ कि तुम्हारी बहादुरी पर तनिक भी भरोसा नहीं किया जा सकता।"

बड़ी बड़ी बातें करना आसान है, परन्तु सच्ची महानता का प्रदर्शन कर्मक्षेत्र में ही किया जा सकता है।

बच्चे की माँ और भेड़िया

एक भूखा भेड़िया सुबह से ही भोजन की तलाश में भटक रहा था। वह जंगल के भीतर बनी एक झोपड़ी के पास से होकर गुजर रहा था कि उसने एक माँ को अपने रोते हुए बच्चे से यह कहते सुना, "चुप हो जा, नहीं तो मैं तुम्हें खिड़की के बाहर फेंक दूँगी और भेड़िया तुम्हें खा जाएगा।" भेड़िया वहीं ठहर गया और दिन भर खिड़की के पास की झाड़ी में बैठकर इन्तजार करता रहा। शाम के समय उसने फिर सुना, वह औरत अपने बच्चे को दुलारते हुए कह रही थी, "अच्छा हुआ कि अब तुम चुप हो गये हो। अब यदि भेड़िया आया, तो मैं उसे मार डालूँगी।" यह सुनकर भेड़िया भूख से त्रस्त और ठण्ड से काँपता हुआ अपनी माँद की ओर लौट चला। घर पहुँचने पर उसकी पत्नी ने पूछा कि वह अपने स्वभाव के विपरीत थका-माँदा और भूखा क्यों दिख रहा है। भेड़िया बोला, "निश्चय ही एक औरत के शब्दों पर विश्वास करने के कारण ही मुझे निराहार रह जाना पड़ा।"

किसी के कोरे शब्दों को ही नहीं, बल्कि उनके पीछे निहित तात्पर्य को भी समझना परम आवश्यक है।

❖ (क्रमश:) ❖

❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋❋

सर्वव्यापी की उपासना

दुर्गाप्रसाद झाला, शाजापुर

उपासना का शाब्दिक अर्थ है – पास बैठना। आसन से एक अतिरिक्त अर्थ ध्वनित होता है – अविचलित भाव से एकाग्र होकर बैठना, स्थिरबुद्धि होकर दृढ़तापूर्वक बैठना, चिन्तन और मनन के उदार और खुले आसमान में पद्मासीन होकर बैठना, अणु को विराट् में और विराट् को अणु में विलीन करके बैठना। **शान्ताकारं भुजगशयनम्** से आरम्भ होनेवाला श्लोक क्या उपासना के ही विशिष्ट रूप को व्यंजित नहीं करता है? दहाड़ता हुआ भयानक समुद्र सभी दिशाओं से प्रहाररत है। लपलपाती जिह्वा से अनुक्षण गरल-हलाहल उगलने को तत्पर भुजंग की शय्या है। तथापि इन सारे संकटों के बीच भी विष्णु शान्त-भाव से अपनी उपासना में तल्लीन हैं। तभी तो वे '**विश्वाधार**' बने हुए हैं। लक्ष्मी उनके चरण चाँप रही हैं और योगीगण भी उनका ध्यान करते हुए अपने जीवन की धन्यता प्राप्त कर रहे हैं। यहाँ '**शयनम्**' शब्द का अर्थ मात्र शय्यासीन होना नहीं, अपितु विपरीतताओं के बीच भी दृढ़ विश्वास के साथ निश्चिन्तता का द्योतक है। उपासना भी ऐसे ही समस्त संकटों के बीच आत्म-आस्था और अविचलित विश्वास के साथ अपनी साधना में मग्न रहना है।

'उपासना' में 'आत्म' में डूब जाना है, परन्तु 'पर' को स्वयं में लीन करके कोई भी 'आत्म' स्वयं में एक निरपेक्ष द्वीप नहीं होता। हर क्षण आत्म 'पर' में और 'पर' आत्म में संचरित होता रहता है, उस समय भी जब हमें ऐसा कोई अहसास तक नहीं होता। यहाँ अद्वैत में द्वैत है और द्वैत में अद्वैत। जीवन 'आत्म' और 'पर' का ऐसा रासायनिक योग है, जिसे कोई भी प्रहार या विधान एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं कर सकता। सभ्यता इसी योग से संचालित है और संस्कृति इसी योग से अपना रूप पाती है।

उपासना चाहे 'आत्म' की हो या 'पर' की, अपने सही अर्थों में वह एक साथ दोनों की होती है। उपासना का एक अर्थ सेवा भी है। 'आत्म-सेवा' भी 'पर' के बिना सम्भव नहीं और 'पर-सेवा' में तो 'आत्म-सेवा' सहज ही अपना उदात्ततम अर्थ पा लेती है। उपासना में 'आत्म-सेवा' का तात्पर्य ही है – आत्म-तत्त्व को सुसंस्कारित कर उसे उदात्त विश्व-मंगल-चेतना के अमृत-तत्त्व से अभिमण्डित करना। इसी को नर का नारायण बनना भी कह सकते हैं। 'नर' 'नारायण' तभी बनता है, जब उसका 'आत्म' 'विराट्' से एकरूप हो जाता है।

अपने रूढ़ अर्थ में उपासना का तात्पर्य है – अपने इष्टदेव की पूजा-आराधना-सेवा करना, अपने इष्टदेव के पास बैठकर उसके गुण-धर्म में लीन होना और अपनी चेतना को दिव्य बनाना – ऐसी उपासना का लक्ष्य होता है। लेकिन यह उपासना जब अपने असली लक्ष्य से च्युत होकर मात्र एक औपचारिक रूढ़ि बन जाती है, अन्ध आस्था का रूप ग्रहण कर लेती है, वैयक्तिक क्षुद्र लालसाओं से परिचालित होने लगती है, जब इष्टदेव के वास्तविक और तात्त्विक गुण-धर्मों का विस्मरण कर उसके बाह्य रूप को ही सर्वस्व मान लिया जाता है और शेष संसार से उसे तथा अपने को भी पृथक् कर तथा इस प्रकार उसकी व्यापकता को तिरस्कृत कर संकुचित सीमाओं में बाँध दिया जाता है, तब वह एक पाखण्ड का ही रूप ग्रहण कर लेती है। तब वह इष्टदेव भी अपने वास्तविक दिव्यत्व से वंचित हो जाता है और उसका सर्वव्यापकत्व मात्र अर्थहीन शब्दजाल बन जाता है। ऐसी उपासना के प्रति तभी सच्चे सन्तों की विद्रोह-चेतना आक्रोश की वाणी बन अन्ध-आस्थाओं को ललकारने लगती है और उन पर सतत प्रहार करने लगती है। इस समय कबीर का नाम लेना पर्याप्त है।

वस्तुत: सच्चा देव कभी संकीर्ण सीमाओं का बन्दी नहीं बनता। देव कोई एक व्यक्ति नहीं, अपितु व्यक्तित्व की परम सुसंस्कृत और उदारतम चेतना का वह रूप है, जो सबमें है और सब उसमें है। गीता (६/३०) के कृष्ण अपने भगवत्-रूप की प्रतिष्ठा इसी तथ्य और सत्य में पाते हैं –

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

– जो सर्वत्र सभी प्राणियों में मुझे देखता है और मुझमें सभी प्राणियों को देखता है, वह मुझसे दूर नहीं होता और न मैं ही उससे दूर होता हूँ।

कबीर ने भी अपने 'लाल' की 'लाली' को इसी प्रकार सर्वव्यापक माना है –

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल ।।

प्रकृति विराट् है, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृति की ही सृष्टि है यह जीवन और जीवन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है मनुष्य –

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सबसे सुन्दरतम।
निर्मित सबकी तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम ।। (पन्त)

मनुष्य में प्रकृति की अनन्त शक्ति समाहित है। ईश्वरत्व की जो भी कल्पना है, मनुष्य में उसे साकार करने की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। ईश्वर की व्यक्ति के रूप में कल्पना सर्वथा भ्रामक है। वह तो परमोच्च आदर्श नीति-नियमों का पूँजीभूत रूप है। आइंस्टीन ने उसे Supreme Intelligence अर्थात् 'महत् बुद्धि' की संज्ञा दी है। गौतम बुद्ध उसे ही 'धम्म' की

अभिधा देते हैं। मनुष्य जब इन परमोच्च आदर्श के नीति-नियमों के भौतिक-आध्यात्मिक धरातल पर अवतरण के लिये प्रयत्नशील होता है, तब वह एक प्रकार से ईश्वरवत्व की ओर ही अग्रसर होता है। इस ईश्वरवत्व की प्राप्ति के लिये मनुष्य का अभावों और अज्ञान से छुटकारा पाना जरूरी है। ये ही वे बन्धन हैं, जो मनुष्य की मुक्ति में बाधक होते हैं। अत: मनुष्य को अभावों और अज्ञान से छुटकारा दिलाने की कोशिश करते हुए उसकी मुक्ति में सहायक होना ही सच्ची उपासना है। मनुष्य की अवहेलना करके कोई भी उपासना अपना अर्थ नहीं पा सकती। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का यह कथन क्या उपासना के सही अर्थ को प्रतिष्ठित नहीं करता है? –

जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना केवल प्रारम्भिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुये उसकी सेवा और सहायता की है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द जाति, धर्म या सम्प्रदाय की उपेक्षा कर दीन-हीन-दुर्बल-रोगी मनुष्य की सेवा में ही उपासना का सार-तत्त्व देखते हैं। इसी प्रकार श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी 'गीताञ्जलि' के एक गीत में 'सच्ची उपासना' के मर्म को इन शब्दों में उद्‌घाटित किया है –

"इस पूजा-पाठ, भजन-गान और माला के जप को छोड़, सब द्वारों को बन्द करके मन्दिर के एकान्त, अन्धेरे कोने में तू किसकी पूजा करता है? आँखें तो खोल और देख कि तेरा ईश्वर तेरे सामने नहीं है।

"वह तो वहाँ है, जहाँ किसान कड़ी भूमि में हल चला रहा है और सड़क बनानेवाला पत्थर तोड़ रहा है। वह धूप और पानी में उनके साथ है और उसके कपड़े धूल से आच्छादित हो रहे हैं। ...

"मुक्ति? मुक्ति कहाँ मिल सकती है? हमारे स्वामी ने स्वयं अपने आपको सृष्टि के बन्धनों में सहर्ष डाला है। वह हम सबके साथ सदा के लिये बँधा है।

"ध्यान और समाधि (के जंजाल) से बाहर निकल आ और धूप और पुष्पों को एक ओर छोड़ दे। यदि तेरे कपड़े फट जायँ और उनमें धब्बे लग जायँ तो हानि ही क्या है? उससे मिल, उसके संग मेहनत कर और उसके साथ पसीना बहा।"

श्रीमद् भागवत् (३/२९/२१,२४) जैसे भक्ति के अनन्य ग्रन्थ में भी मूर्तिपूजा की अपेक्षा मानव-पूजा को ही असली पूजा माना गया है। भगवत् स्वरूप कपिल अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुये कहते हैं –

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः॥

– आत्मा के रूप में मैं प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान हूँ, परन्तु मरणशील मानव-जीव में मेरी अवहेलना करके प्रतिमा में पूजन का स्वांग करता है। ... जो व्यक्ति छोटे-बड़े अनेक उपचारों से तरह-तरह के विधि-विधानों के साथ मेरी मूर्ति का पूजन करते हुये भी दूसरे जीवों का अपमान करता है, उससे मैं कदापि प्रसन्न नहीं हो सकता।

इस मानव-उपासना के लिए जरूरी है कि व्यक्ति स्वयं भी आत्मबोध और आत्म-परिष्करण की प्रक्रिया से गुजरे। आत्मबोध और आत्म-परिष्करण के लिये आत्मलीन होना भी कम जरूरी नहीं है। आत्मलीन होकर ही वह आत्म-प्रक्षालन में समर्थ होता है। यहाँ यह स्पष्टीकरण जरूरी प्रतीत होता है कि 'आत्मलीन' होने का अर्थ 'निर्विचार' की निर्द्वन्द्व मानसिकता नहीं है। प्रज्ञा का प्रोज्वल रूप आत्म-बेहोशी में कदापि सम्भव नहीं। 'आत्मबोध' और 'आत्म-परिष्करण' के लिए 'आत्म-संवाद' की प्रक्रिया अनिवार्य होती है। 'आत्म-संवाद' की प्रक्रिया वैचारिक प्रक्रिया का ही एक अन्तरंग अंग है। 'निर्विचार' जड़ता की स्थिति है और 'आत्म-संवाद' चेतना की। जड़ता से चेतना की ओर ऊर्ध्वगमन, जीवन-यात्रा का चरम लक्ष्य है। वस्तुत: वैचारिक द्वन्द्वात्मकता से गुजरते हुये 'आत्म-संवाद' के माध्यम से ही कतिपय महत् जीवन-मूल्यों की अवधारणा को एक सीमा तक आत्मसात् किया जा सकता है।

कुछ सुधी जन 'निर्विचार' की निर्द्वन्द्व आत्मलीन मानसिकता का सम्बन्ध तुरीयावस्था की परम आत्मानन्दमयी रसानुभूति से जोड़ते हैं। वे उसे मोक्ष के परम और चरम आस्था की रसमयी उपलब्धि के रूप में ग्रहण करते हैं। भारतीय योग-दर्शन में जिसे 'निर्विकार समाधि' माना गया है, 'निर्विचार' की धारणा से उसकी एकरूपता मानी जा सकती है। दोनों में सत्ता-भेद या अवस्था-भेद को लेकर थोड़ा अन्तर तो है, लेकिन प्रक्रिया और परिणति में – दोनों में बहुत साम्य प्रतीत होता है। कहा जाता है कि किसी विशिष्ट कारणवश जब स्वामी विवेकानन्द ने 'निर्विकल्प समाधि' लगायी तो स्वयं श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें फटकारा था और उन्हें अपने गुरुतर सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने का आदेश दिया था। स्पष्टत: उन्होने 'निर्विकल्प समाधि' की तुलना में मानव-सेवा को अधिक वरीयता दी थी। कहना न होगा कि 'निर्विचार', या 'निर्विकल्प समाधि' को जीवन-लक्ष्य माननेवाली प्रवृत्ति जीवन का ही निषेध करनेवाली प्रवृत्ति है। प्रकारान्तर से यह प्रवृत्ति उस अनन्त-अद्भुत-दिव्य-

ऊर्जामयी महत् शक्ति का भी तिरस्कार करती है, जिसने उस जीवन को मुक्तहस्त से अनन्त वैभव और सौन्दर्य-श्री प्रदान की है। तभी तो उस परम शक्ति ने समता लौकिक, वैभव और सौन्दर्य-श्री में अपनी ही छवि को परिव्याप्त माना है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

हाँ, परन्तु साथ ही सावधान जरूर किया है कि उसे 'त्याग के भाव से भोगो' – **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा ... ...**

क्या इस सावधानी का सन्देश देकर उन्होंने मानव की उपभोक्तावादी उनमुक्त प्रवृति पर ही अंकुश नहीं लगाया है? **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा** – पदावली का यह सन्देश भी बहुत मुखर है कि इस चारों ओर बिखरे ऐश्वर्य और सौन्दर्य का उपभोग तो करो, लेकिन मोहासक्त होकर नहीं। इनका तिरस्कार तो मत करो, पर इनसे बँधो भी मत। बन्धन ही दुःख है। मुक्ति (किसी पारमार्थिक मोक्ष के अर्थ में नहीं, अपितु अनासक्ति के अर्थ में) ही सुख है।

जीवन का मूलाधार है – ऊर्जा। ऊर्जा का मूलाधार है गति। ऊर्जा की इस अनवरत गतिशीलता में ही जीवन का उत्स छिपा हुआ है। यह जीवन सौन्दर्य और श्री का अटूट भण्डार है। इससे विरत होना उस अनन्त दिव्य शक्ति के दिये हुए वरदान से ही मानो विरत होना है। कामायनी की श्रद्धा मनु के सामने जीवन के इसी सत्य को रेखांकित करती है –

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत् की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।।

वस्तुतः जीवन प्रकृति का परम पुरुषार्थ है। वह वन्दनीय है। वरेण्य है। मृत्यु, 'तथ्य' जरूर है, लेकिन 'सत्य' जीवन ही है। जीवन मृत्यु के इस पार भी है, जीवन मृत्यु के उस पार भी है। मृत्यु एक स्थिति भर है, जीवन एक निरन्तर गतिशील सत्ता है। यह जीवन अपनी गतिशीलता में नित नया रूप पाता रहता है – **तिल तिल नूतन होय!** इसलिये यह चिर आकर्षण का केन्द्र है। अपनी नित नवीनता में यह सौन्दर्य के नये-नये आयामों को उद्भासित करता रहता है। इस सौन्दर्य में जीवन की उमंग एवं सृष्टि मात्र का उल्लास तरंगित है। इसके आस्वाद में जो रसानुभूति है, वह वैराग्य-साधन से प्राप्त मुक्ति में नहीं। इसीलिये विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर की आर्षवाणी है –

वैराग्य-साधना से जो मुक्ति मिलती है, उसकी मुझे कोई कामना नहीं। असंख्य बन्धनों के बीच भी किलकारी भरती जीवन-चेतना में ही मुझे तो परम आनन्दमयी मुक्ति के दर्शन होते हैं। ... इन्द्रियों के समस्त द्वारों को निरुद्ध कर जिस मुक्ति की उपलब्धि होती है, उसमें मेरा कोई भरोसा नहीं। इस दृश्य-गन्ध और गीतों से भरे संसार में जो भी आनन्द-धारा उच्छालित हो रही है, उसमें क्या तुम्हारे ही अन्तर-आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है?

जर्मन कवि गरहर्ट हाफमैन की भी तो कुछ ऐसी ही अनुभूति है –

जीवन का आनन्द-कोष तो अपरिमित है। जीवन के प्रति जो उदासीन रहते हैं, वास्तव में उन्होंने जिन्दगी का आनन्द ही नहीं लिया। मेरे विचार से तो इस नित्य नवीन विश्व में अपने जैसी कोई चीज है नहीं। प्रतिदिन प्रातः और सायं दिखाई देने वाले सूरज का आकर्षण भी कभी फीका नहीं पड़ता। फूलों की पंखुड़ियों की सुगन्ध प्रतिदिन नये सिरे से मन को प्रफुल्लित कर देती है – घास की हरियाली और कोमलता हृदय को शान्ति प्रदान करती है।

उपासना जीवन की इस चिर सौन्दर्यमयी चेतना से शक्ति पाती है और स्वयं आनन्दमयी चेतना बन जाती है। यह चेतना कभी वैयक्तिक अहं की कारा में बन्द नहीं होती। आत्म-विस्तार में ही इसे अपने अर्थ का अनुभव होता है। इस आत्म-विस्तार की प्रक्रिया में एक स्थिति ऐसी भी आती है कि जब 'मैं' और 'तू' का भेद सर्वथा विलीन हो जाता है –

तू तू करता तू भया मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गया जित देखूँ तित तूँ।। (कबीर)

स्पष्ट है, उपासना मनुष्य को द्वैत से अद्वैत की ओर ले जाती है और समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही प्राण-धारा का स्पन्दन पाती है। सारे धर्म भी अपने शुद्ध रूप में भेद में अभेद की साधना ही हैं। वे सदैव सीमा का विस्तार असीम तक करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अतएव उपासना ऐसे धर्म का भी प्राण-तत्त्व मानी जा सकती है। ❖

पुरखों की थाती (४)

आत्मनः मुखदोषेन बध्यन्ते शुकसारिका।
बकास्तु नैव बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम्।।

– (अधिक) बोलने के दोष के कारण तोते-मैने बन्धन में पड़ जाते हैं, पर (चुप रहने के कारण) बगुला कभी बन्धन में नहीं पड़ता; अतएव मौन ही परम उपकारी है।

अनंतशास्त्रं बहुवेदितव्यं अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्।।

– शास्त्रों की संख्या अनन्त है, जानने की बातें असंख्य हैं, बाधाएँ अनेक हैं, (पर) जीवन की अवधि सीमित है; (अतः) जैसे हंस जल में मिश्रित दूध को पी लेता है, वैसे ही व्यक्ति को शास्त्र की असार बातें छोड़कर सारभूत बातें जान लेनी चाहिए।

सद्भावना की जरूरत

भैरवदत्त उपाध्याय

लोगों का कथन है कि मनुष्य तर्कशील प्राणी है । वह हर बात को तर्क की कसौटी पर कसकर परखता है । जो खरा उतरता है, उसी को अपनाता है । यह जितना आकर्षक लगता है, उतना ही विचित्र भी । यदि मनुष्य को तर्कशील के स्थान पर भावनाप्रधान या भावनाशील प्राणी कहा जाय तो अधिक सटीक होगा, क्योंकि मनुष्य का जीवन उसका कार्य, व्यवहार, उसके मानवीय सम्बन्ध, विश्वास, मूल्य और आस्थाएँ भावनाओं से ही सम्बन्धित हैं । तर्क से उसका दूर का भी नाता नहीं है । भक्त भावनाओं से प्रेरित होकर भगवान की उपासना करता है । मन्दिर का पुजारी पाषाण प्रतिमाओं में भावनाओं को उड़ेलकर ही उन्हें जीवन्त बनाता है । शब्द भावनाओं से ही भावित होकर मंत्र बनते हैं । माता वात्सल्य के वशीभूत होकर बच्चे को दुग्धपान कराती है । भावना से ही अनुप्रेरित होकर पुत्र माता-पिता की सेवा करता है । गुरु में त्रिदेवों की भावना करके शिष्य विनम्रता से भर जाता है । गुरु जब तक शिष्य के प्रति भावनाओं से छलछलाता नहीं, तब तक शिष्य के प्रति वह अपने दायित्व का समुचित निर्वाह नहीं कर पाता । सैनिक देश की सीमाओं की रक्षा तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसके हृदय में देश के प्रेम की भावना न हो । भाई-भाई, भाई-बहन, देवर-भाभी, जेठ-ससुर, ननद-भौजाई और मित्र-मित्र आदि के जितने भी सामाजिक बन्धन हैं, वे सब भावना के ही अदृश्य किन्तु मजबूत धागे से बँधे हैं । यदि हृदय का जलाशय भावनाओं के जल से रहित है, तो फिर न तो सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह हो सकता है और न कर्त्तव्यों का । भावना ही तो हमारे जीवन की धुरी है ।

आज विज्ञान के युग में भावनाओं की लताएँ सुख रही हैं । मशीनों के उत्पादन से हमारे सामाजिक सम्बन्ध भी यंत्रवत् अर्थात् संवेदनहीन हो गये हैं । जहाँ भावना है, वही संवेदना और सहानुभूति है । संवेदना के कारण व्यक्ति दूसरे प्राणी की पीड़ा को समझता है और साथ-साथ अनुभूत करता हुआ उसके उपचार हेतु सहयोग की पहल करता है । संवेदनशीलता के लिये ही भगवान ने मनुष्य को पैदा किया है ताकि वह समस्त चेतन एवं अचेतन जगत् के प्रति मैत्री और करुणा से भर जाय । वेदना के भार को कम करने के प्रयासों मे जुट पड़े । जितने भी महापुरुष अवतरित हुए, उन सभी ने परपीड़ा की अनुभूति कर उसे बँटा लेने का उपदेश दिया है । निजी जीवन में आचरण के व्यावहारिक उदहरण दिये हैं ।

हमारा मन अच्छी भावनाओं से भरता है, तब लोगों से हमारे रागात्मक सम्बन्धों का विकास होता है और जब सद्भावनाएँ दुर्भावनाओं में परिणत होती हैं, तब हमारा व्यवहार हिंसात्मक और अमानवीय हो जाता है, क्योंकि हम भावनाप्रधान प्राणी होने के नाते भावानाओं से परिचालित होते रहते हैं । भावनाप्रधान होने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हमारी भावनाएँ मात्र भावनाएँ हैं, उनका आधार तर्क, विचार तथा चिन्तन कुछ नहीं है । उनके पीछे व्यापक लोकदृष्टि नहीं है । कोरी भावनाओं के प्रवाह में बहना गलदश्रु भावुकता है, जो व्यक्ति के जीवन की एक बड़ी कमजोरी है । भावनाओं का सम्बन्ध कर्त्तव्य से है, विवेक और विचार से है ।

आज हमारे समाज में सद्भावना का अभाव है । जिसके कारण ही समाज में आतंकवाद और उग्रवाद की सुरसा के मुख का विस्तार हो रहा है । हत्या जैसी जघन्य घटनाएँ हो रही हैं। आपसी सम्बन्धों में दरारें पड़ रही है। कलह, आन्दोलन और विवाद की वृद्धि हो रही है । परिवार बिखर रहे हैं । समाज टूट रहा है । यदि हमें इसकी पीड़ा है, लोकोदय और लोकमंगल की कामना है, तो आइये, समाज की धरती पर हम सद्भावना का एक पौधा रोपें, जिससे आपस की दूरियाँ सिमटे और मानव पीड़ा का प्रदूषण कम हो । ❖

गीता-अध्ययन की भूमिका (३)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

जब हम दूसरे अध्याय पर आते हैं, तो हम सच्चे दर्शन के उषाकाल में हैं। दर्शन-शास्त्र का पहला कर्तव्य है कि वह अध्येता के मन में स्थिरता तथा विश्वास उत्पन्न करे। श्रीकृष्ण अर्जुन के लिए ऐसा ही करते हैं। द्वितीय अध्याय के दूसरे तथा तीसरे श्लोक का यही उद्देश्य है –

कुतस्त्वा कश्मलम् इदं विषमे समुपस्थितम्
अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन ।।

– "हे अर्जुन! ऐसे घोर संकट के अवसर पर यह आर्यों के लिए अशोभनीय, स्वर्ग में बाधक और कीर्ति का नाश करनेवाला शोक तुम्हारे मन में कहाँ से आया?"

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।

– "हे पृथातनय! इस कायरता को प्रश्रय न दो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे परंतप, हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को तुम त्याग दो और उठकर खड़े हो जाओ।"

इन दो श्लोकों में हमें वह मानसिक टॉनिक (शक्तिवर्धक घुट्टी) प्राप्त होती है, जिसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पिलाया था और किसी भी अन्य उपदेश को प्रभावी बनाने के पूर्व वह टॉनिक पिलाना आवश्यक था। जब कोई व्यक्ति शोकसन्तप्त होता है और उसकी स्नायुएँ टूट चुकी होती हैं, तब कितने भी उपदेश या सलाह उस पर कारगर नहीं होते और दर्शन की तो बात ही क्या! चरम शान्ति आवश्यक है, परन्तु मात्र निष्क्रिय शान्ति नहीं, बल्कि ऐसी शान्ति जो सक्रिय हो। गीता के सम्पूर्ण उपदेश का भाव हम इन दो में से परवर्ती श्लोक से प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द अपने 'गीता पर विचार' (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३२०) में कहते हैं, "यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है – **क्लैब्यं ... परंतप** – तो उसे सम्पूर्ण गीता-पाठ का लाभ होता है, क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का सन्देश निहित है। यह केवल अर्जुन के लिए नहीं, बल्कि जो भी लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हैं, उन सबको यह शिक्षा जाग्रत करने के लिए आती है। हमें बारम्बार जगाने की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि मन में सर्वदा तन्द्रालु तथा निद्रित हो जाने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु इसके साथ ही मन में स्वयं को उठाकर जीवन के युद्ध में लगाने की सामर्थ्य भी होती है, जो व्यावहारिक रूप से अधिकांश लोगों में सुप्त ही रह जाती है। परन्तु इस सामर्थ्य को विकसित करना होगा। यदि हम इसे स्वयं नहीं कर सकते, तो इसके लिए हमें किसी अन्य की आवश्यकता होगी; एक महान् आचार्य, एक धर्मग्रन्थ या एक आदर्श हमारे लिए यही कार्य सम्पन्न करते हैं। अर्जुन के मामले में श्रीकृष्ण ने यह भूमिका अदा की। हमें भी इसके लिए किसी महान् व्यक्ति की आवश्यकता होती है। वेदान्त का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अनन्त संसाधन निहित हैं; उसे उन संसाधनों का उपयोग करना होगा; और एक महान् शिक्षक में वह शक्ति होती है, जिसके द्वारा वह अपने स्वयं के तथा दूसरों के भीतर से इस सम्भावित क्षमता को प्रकट कर देता है। एक महान् गुरु या आचार्य के स्पर्श मात्र से हममें ऐसी महान् ऊर्जाएँ तथा शक्तियाँ व्यक्त होना शुरू कर देती हैं, जिनके अस्तित्व से हम पहले अवगत ही नहीं थे। **न एतत् त्वयि उपपद्यते** – 'यह तुम्हें शोभा नहीं देता' – इन शब्दों के द्वारा श्रीकृष्ण ने वह जादुई स्पर्श प्रदान किया।

इस सुप्रसिद्ध वाक्यांश में जो भाव निहित है, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति में ऊँचे-से-ऊँचा उठने की और अपने भीतर शक्ति के नये नये स्रोतों को प्राप्त करने की प्रेरणा जगाता है। इस प्रेरणा का शैक्षणिक दृष्टि से परम महत्त्व है। किस प्रकार एक अन्य व्यक्ति की सहायता की जाय, किस प्रकार उसे अपने पैरों पर खड़ा होने में सक्षम बनाया जाय – यह एक महान् शैक्षणिक समस्या है। उस व्यक्ति को उच्चतर स्तरों पर उठाने और उसके अपने जीवन तथा शक्ति का विकास करने हेतु उपायों तथा साधनों का विकास करने का कार्य कैसे हाथ में लिया जाय? इस बृहत्तर सन्दर्भ में यह विचार भी प्रासंगिक हो जाता है, क्योंकि श्रीकृष्ण की प्रेरणा एक सामान्य प्रेरणा है। इसमें एक सकारात्मक तत्त्व है। भय दिखाना ही दूसरों को उचित व्यवहार में प्रवृत्त करने का प्राचीनतम उपाय था। भय की यह प्रेरणा व्यक्ति के सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं से जुड़ी थी। परन्तु भय की यह प्रेरणा खतरे से परिपूर्ण है; यह थोड़ी-बहुत अच्छाई के साथ बहुत-सी बुराई लाती है। व्यक्ति को अच्छे व्यवहार में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से प्रत्येक धर्म में नरक, न्याय आदि के सिद्धान्तों के रूप में भय की यह प्रेरणा दिखाई देती है। स्वर्ग की आशा तथा नरक के भय से लोग भलाई करते तथा बुराई से दूर रहते हैं – यह धर्म की आदिम धारणा है। सामाजिक क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि लोग पुलिस तथा सामाजिक बहिष्कार के भय से बुराइयों से बचते हैं। आदिम समाज, धर्म या यहाँ तक कि सभ्य समाज में भी हमें
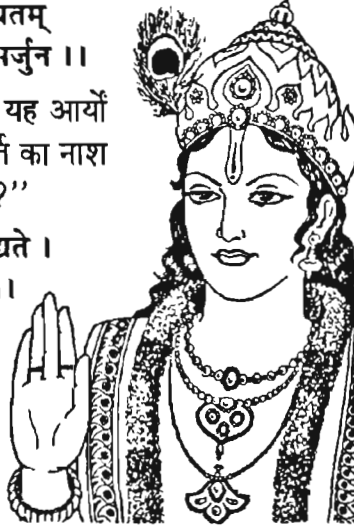
यही प्राप्त होता है। परन्तु ये प्रेरणाएँ व्यक्ति के भीतर से सर्वोत्तम को व्यक्त कर पाने में सहायता नहीं करती, क्योंकि यह मात्र एक नकारात्मक तरीका है। आशा तथा भय की प्रेरणा के समान ही अहंकार की प्रेरणा भी है। ये मानवता के विकास में अपनी भूमिका अदा कर चुकी हैं। अपनी किसी अवस्था में शायद मानवता को उनकी जरूरत रही होगी। उनके बारे में अधिक-से-अधिक हम इतना ही कह सकते हैं। परन्तु साथ ही हम उनके बारे में यह भी कह सकते हैं कि सही आचरण में प्रवृत्त कराने के उपलब्ध साधनों में वे सर्वोत्तम नहीं हैं। हम उन्हें त्यागने में सक्षम नहीं भी हो सकते हैं, क्योंकि मानवता अपने विकास के विभिन्न चरणों में है। अधिकांश लोग भय तथा उसके साथ ही सुख की आशा पर आधारित आचरण को समझने में ही समर्थ हैं। पर जब हम शैक्षणिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में आते हैं, जब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि व्यक्ति के लिए क्या हितकर है, तो हम श्रीकृष्ण द्वारा अपनाए गये 'व्यक्ति के स्वाभिमान के भाव को जगाना' ही श्रेष्ठ उपाय के रूप में पाते हैं। सभी सभ्य परिवारों में बच्चे को भय दिखाकर नहीं, बल्कि उसके इस स्वाभिमान को प्रेरित करके ही उसके व्यवहार को प्रभावित किया जाता है। असभ्य समाजों में माता-पिता भय के स्रोतरूप भूत-प्रेतों या अन्धकार की प्रेरणा का उपयोग करते हैं। परन्तु इन सभी मामलों में हम व्यक्ति की शिक्षा या विकास के लिए प्रयास नहीं करते, बल्कि सामयिक रूप से ऐसे साधनों के द्वारा उसके बाह्य आचरण को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं, जो आन्तरिक मनुष्य पर एक स्थायी दाग छोड़ जाते हैं। इससे शैक्षणिक प्रेरणा के रूप में उनकी निरर्थकता सिद्ध हो जाती है।

यदि हम ऐसी प्रेरणा जगाना चाहते हैं, जो रचनात्मक तथा सकारात्मक हो, जो व्यक्ति के लिए अपनी क्षमताओं का विकास करने में अधिकाधिक सहायक हो, तो उसे व्यक्ति के स्वाभिमान की धारणा पर आधारित होनी चाहिए। जब हम बच्चे से कहते हैं, "तुम्हारा यह आचरण तुम्हारे योग्य नहीं है; मैं तुमसे इससे बेहतर की आशा करता हूँ; यह उतना अच्छा नहीं है" – तब हम बच्चे में निहित सकारात्मक तत्त्व को प्रेरित करने का प्रयास कर रहे होते हैं। यह नकारात्मक तथा ध्वंसात्मक नहीं, सकारात्मक तथा रचनात्मक है। आधुनिक मनोविज्ञान इस समस्या पर काफी प्रकाश डालता है।

आधुनिक विज्ञान आत्मगौरव या स्वाभिमान को चरित्र-निर्माण की आधारशिला मानता है। मैकडूगल के मतानुसार यह प्रमुख भाव है और स्वाभिमान की इस मुख्य भावना के चारों ओर संवेदनाओं तथा भावनाओं के संघटन को ही चरित्र कहते हैं। स्वाभिमान को आधार बनाये बिना किसी भी चरित्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। मनुष्य के भीतर जो भी स्वाभिमान है, यदि उसे निकाल लो, तो तुम उसे कभी मनुष्य नहीं बना सकते या उसके चरित्र के विकास में सहायक नहीं हो सकते। मनुष्य तथा नरपशु में केवल स्वाभिमान का ही भेद है। सामाजिक अत्याचार तथा सामाजिक उपेक्षा के द्वारा स्वाभिमान के इस मूल्यवान गुण को नष्ट कर दिये जाने के फलस्वरूप मनुष्य को पशुओं के स्तर तक पहुँचा दिया गया है। एक गुलाम को लीज़िए; उसमें जरा भी स्वाभिमान नहीं बचा है; क्योंकि समाज ने निरन्तर अत्याचार करके उसके इस गुण को समाप्त कर दिया है। ऐसे व्यक्ति में इस मूलभूत गुण को फिर से स्थापित करना एक बड़ी कठिन प्रक्रिया है। यह उन्हीं लोगों के द्वारा किया जा सकता है, जो स्वयं मुक्त हों। उसके अन्दर इस गुण को इसलिए पुन: जगाया जा सकता है कि गुलाम बनते समय उसने अपने वास्तविक स्वरूप को खोया नहीं, बल्कि केवल भुला भर दिया था। अतएव एक गुलाम को अपने आत्मविकास के पहले कदम के रूप में स्वाभिमान का विकास करना जरूरी है। दूसरे के स्वाभिमान को स्पर्श करके ही हम उसे सर्वाधिक हानि पहुँचा सकते हैं। **आप चाहे जो भी करें, पर किसी के स्वाभिमान को नष्ट न करें**, क्योंकि इसी के द्वारा हम उसके विनाश का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यह सूक्ति समस्त सामाजिक सम्बन्धों के लिए एक निश्चित तथा विवेकपूर्ण मार्गदर्शक बन सकती है। दुर्भाग्यवश इस नियम का पालन कम और उल्लंघन ही अधिक होता है, क्योंकि हम लोग विचारों से अनुप्राणित कर्म करने में सक्षम नहीं हैं। हम मालिकों को सेवकों के साथ ऐसा व्यवहार करते देखते हैं मानो वे उनकी कोई निर्जीव सम्पत्ति हों। सेवक मालिक के लिए कार्य तो करता है, परन्तु उसने उसे अपनी अन्तरात्मा तो नहीं बेच दी है! मालिक अपने अविवेक के कारण सेवक के स्वाभिमान को आहत कर देता है। इसीलिए संवेदनशील सेवक अपने मालिक से शिकायत करता है, "आप मुझे पीट भले ही लीजिए, परन्तु कृपया गाली मत दीजिए।" क्योंकि गाली व्यक्ति के सबसे संवेदनशील अंग – उसके स्वाभिमान को ही स्पर्श करती है। यदि हम किसी व्यक्ति को शिक्षित करना और उसकी सच्ची भलाई करना चाहते हैं, तो हमें उसमें इस अमूल्य गुण का संरक्षण तथा विकास करना होगा। शिक्षा के आधुनिक सिद्धान्त इसी सर्वोच्च मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित हैं।

मनोविज्ञान चरित्र के निर्माण में इस प्रमुख भाव के चरम महत्त्व को बताता है। अपने अविवेकपूर्ण आचरण के द्वारा बच्चों के स्वाभिमान का नाश करनेवाले माता-पिता व शिक्षक समाज के शत्रु हैं। आधुनिक सिद्धान्त कहता है कि हम बच्चों के साथ आचरण करते समय निर्जीव बर्तनों के साथ नहीं; बल्कि कोमल, सप्राण व सजीव व्यक्तित्वों के साथ बरताव कर रहे हैं। हम अनगढ़े मनों के साथ बरताव कर रहे हैं और हम लोग जो कुछ भी करते हैं, वह उनसे युक्त हो जाता है, अत:

उनकी देखरेख के लिए निपुण हाथों की जरूरत होती है।

इसी में वेदान्त का पूरा सार निहित है। स्वामी विवेकानन्द इसे अपने स्मरणीय शब्दों में कहते हैं, "प्रत्येक जीव अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति के नियमन द्वारा अपने अन्तर्निहित इस ब्रह्मत्व को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। कर्म, भक्ति, मनःसंयम या ज्ञान; इनमें से एक, अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर इसे सम्पन्न करो और मुक्त हो जाओ। यही धर्म का सार-सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा बाह्य क्रियाकलाप तो उसके गौण ब्यौरे मात्र हैं।" व्यक्ति के साथ बरताव करते समय हम शक्ति के विशाल भण्डार के साथ बरताव कर रहे हैं, जो वर्तमान में सुप्त पड़ा है; पर उपयुक्त प्रशिक्षण के द्वारा यह एक विशाल बाढ़ में परिणत हो सकता है। जो ठीक ठीक प्रशिक्षित है, वह एक सशक्त व्यक्तित्व होता है और जो ठीक ढंग से प्रशिक्षित नहीं है, वह एक संकीर्ण व्यक्तित्व हो जाता है।

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये – **न एतत् त्वयि उपपद्यते** – 'यह तुम्हें शोभा नहीं देता' – इस प्रबोधन में वह महान् मनोवैज्ञानिक प्रेरणा छिपी हुई है। दुनिया को पता था कि अर्जुन कौन है – वह जिसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की है। क्या उसे भय तथा हताशा का शिकार होना चाहिए? क्या उसे कठिन परिस्थिति की चुनौती के समक्ष अपनी जन्मजात शक्ति तथा पूर्णता को अधिकाधिक व्यक्त करते हुए वीरता के साथ खड़े नहीं हो जाना चाहिए? जीवन के कठोर विद्यालय की यही सच्ची शिक्षा है। और इस गूढ़ शैक्षणिक प्रक्रिया में श्रीकृष्ण अर्जुन के मार्गदर्शक हैं। यह शिक्षा गहन दर्शन पर आधारित है। यहाँ वेदान्त और आधुनिक शैक्षणिक सिद्धान्तों के बीच पूर्ण सामंजस्य हैं।

दूसरे अध्याय के श्लोकों में इस वेदान्तिक उपदेश के नैतिक तात्पर्यों पर भी चर्चा होगी। वेदान्त मानता है कि यदि हम अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करें, तो हम कभी अपराधी या दुष्ट नहीं हो सकते। पाप या दुराचार करते समय हम अपने शुद्ध तथा पूर्ण सच्चे स्वरूप को नहीं, बल्कि अपने अहं-केन्द्रित प्रातिभासिक स्वरूप को ही व्यक्त करते हैं। वेदान्त के अनुसार नैतिक आचरण मनुष्य के अपने सच्चे स्वरूप की अभिव्यक्ति है। जब मनुष्य अपने अन्दर निहित देवत्व को प्रकट करता है, तभी वह सच्चा जीवन बिताता है। स्वार्थ हमारा वास्तविक नहीं, अपितु सतही स्वरूप है। अपने सतही स्वरूप को व्यक्त करते समय हम अपने वास्तविक स्वरूप को व्यक्त नहीं करते। जब मैं सच्चा जीवन बिताता हूँ अर्थात् जब मैं अपने सच्चे स्वरूप को प्रकट करता हूँ, तभी मैं परिपूर्ण हूँ। वेदान्त के अनुसार यही सर्वोच्च नैतिकता है।

अर्जुन के कार्य को कर्तव्य-सम्बन्धी नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए और कर्तव्य के नीतिशास्त्र को सत्य के दर्शनशास्त्र के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। नीतिशास्त्र सत्य की समस्या तक ले जाता है और यही दर्शनशास्त्र है। गीता का दर्शन नीतिशास्त्र को मार्गदर्शन प्रदान करने का प्रयास करता है। आधुनिक काल में अनेक चिन्तक हमसे कहते हैं कि नीतिशास्त्र में तत्त्व (ब्रह्म) का प्रश्न मत लाओ। प्रत्यक्षवादियों के कुछ सम्प्रदाय ऐसा ही कहते हैं। परन्तु इस देश में हमने काफी पहले ही इस पर चर्चा करके जान लिया कि चरम प्रश्नों को लाये बिना किसी भी समस्या को पूरी तौर से समझा नहीं जा सकता। जब किसी भी क्रिया के बारे में आप पूछते हैं कि मैं इसे क्यों करूँ, तब आप चिन्तन एवं चर्चा के व्यापकतर दायरों में प्रवेश करते हैं। दर्शनशास्त्र जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखता है और गीता नीतिशास्त्र को उसी के निर्देशन में छोड़ देती है। गीता का दूसरा अध्याय व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप तथा परम तत्त्व के स्वरूप जैसे विषयों पर चर्चा करता है और ज्ञान तथा विवेक के आलोक में आचरण तथा क्रिया के स्वरूप का अध्ययन करता है। यह अर्जुन की वर्तमान समस्या के चारों ओर कर्म के दर्शन तथा नीतिशास्त्र का एक ऐसा ताना-बाना बुनता है, जो आगे चलकर अन्य लोगों के लिए जीवन की सभी परिस्थितियों में एक मार्गदर्शक बन जाता है। इस प्रकार सभी पर लागू होना दर्शनशास्त्र का फल है। यदि अर्जुन को दी गई सलाहों के पीछे दर्शन नहीं होता, तो वे दूसरों पर लागू नहीं हो पातीं। अतः गीता की सलाह केवल अर्जुन के लिए नहीं थी। इसका कार्यक्षेत्र सार्वभौमिक है; यही कारण है कि चार हजार वर्षों के बाद यह आज भी हमें प्रेरित करती है। यदि इसमें केवल व्यावहारिक परामर्श तथा मार्गदर्शन होता, तो इसने सभी लोगों को प्रेरित नहीं किया होता। बहुत हुआ तो इसमें साहित्यिक प्रभाव होता, दार्शनिक प्रेरणा नहीं। पर जब आप साहित्यिक को दार्शनिक सन्दर्भ से जोड़ देते हैं, तब वह सार्वभौमिक हो जाता है। गीता के मामले में श्रीकृष्ण ने ऐसा ही किया है।

गीता लोगों के हृदय में विवेक की लौ जगाती है और उन्हें स्वयं ही अपनी समस्या का समाधान करने को छोड़ देती है। बाद के एक अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में एक छोटा-सा ज्ञानदीप जला देते है, जिसके द्वारा वह सत्य को देखता है और भूल से दूर रहता है। वे हमारे लिए अन्तिम निर्णय नहीं करते। दर्शनशास्त्र हमारे लिए निर्णय नहीं लेता; यह केवल हमारा मार्गदर्शन करने का प्रयास करता है। स्मृतियाँ अवश्य निर्धारित करती हैं कि चौबीसों घण्टों के प्रत्येक मिनट में हम क्या करें। यह मरणात्मक हो जाता है। यह हमें दास और गुलाम बना देता है। दर्शन मानव-जाति को इन बन्धनों से मुक्त करता है। यह केवल उद्दीपन प्रदान करता है; यह मार्ग ढूँढ़ने के लिए हमारे हाथों में एक दीपक पकड़ा देता है। इससे कुछ अधिक देने से हमारी

पहल करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। पर मनुष्य दुर्बल है; वह कहता है, "मैं सारी सहायता चाहता हूँ; मैं चाहता हूँ कि कोई मेरा हाथ पकड़कर पहुँचा दे।" तब स्मृतियों का आगमन होता है। इनमें सच्चा नीतिशास्त्र नही, बल्कि परम्परागत नीतिशास्त्र होता है। यह मन की एक तरह की जड़ता है, जिसे पकड़े रहने के लिए किसी-न-किसी सहारे की जरूरत होती है। सच्चा दर्शन हमें अनेक पुस्तकों या कठोर नियमावली के द्वारा बोझिल नहीं करता। यह एक दीपक की ज्योति के समान है। यह केवल विवेक का वितरण करता है। दार्शनिक मार्ग-दर्शन सबसे सहज मार्गदर्शन है। दर्शन हमसे यह अपेक्षा नहीं रखता कि हम जीवन से अन्य तत्त्वों को निकाल फेकें। हम बिना अनेक पुस्तकों की सहायता के दर्शन को समझ सकते हैं। कुछ लोग कहते हैं, "कर्म तथा चिन्तन एक ही साथ नहीं किये जा सकते। यदि मुझे दर्शन पर सोचना है, तो मुझे कर्म बन्द कर देना होगा। परन्तु आप मुझे दर्शन तथा कर्म को जोड़ने के लिए कह रहे हैं। यह असम्भव है।" श्रीकृष्ण चाहते हैं कि हम दर्शन तथा जीवन – दोनों को जोड़ें, क्योंकि जीवन को ही दर्शन के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। जब जीवन नही होगा, तो मार्गदर्शन की भी जरूरत नहीं होगी। हम इस समस्या का कैसे समाधान करें? कुछ लोग कहते हैं, "कर्म बन्द कर दो, जीवन को कुछ हद तक जमा लो, बस; यही समस्या का श्रेष्ठ समाधान है। संसार को हटा दो, क्योंकि यही सारी सनस्याओं का मूल है।" परन्तु जब कोई समस्या ही नहीं होगी, तो फिर समाधान की क्या उपयोगिता है? समस्या के अभाव में समाधान व्यर्थ है। फिर कोई दूसरा आकर कहता है, "कोई समाधान नहीं है, अत: समस्या के बारे में बिल्कुल भी चिन्ता मत करो और जो भी विश्वास जुटा सको, उसी के साथ कर्म करते हुए जिये जाओ।" यहीं पर वेदान्त हमारी सहायता के लिए आता है। यह पूरी बहादुरी के साथ समस्या का सामना करता है और हमें एक समाधान प्रदान करता है। परन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देशवासी भी वेदान्त के इस पक्ष को समझ नहीं सके हैं। वेदान्त को हम केवल पुस्तकों का, समय काटने का साधन समझते हैं। पर यह केवल बौद्धिक वेदान्त हुआ। श्रीकृष्ण ने हमें इस वेदान्त की शिक्षा नहीं दी। उन्होंने हमें युद्धक्षेत्र का और उसी के लिए उपयोगी वेदान्त सिखाया। यह खोज खाली समय बिताने के लिए नहीं है। यह कठिन परिस्थितियों तथा दैनन्दिन जीवन के संघर्षों के बीच उत्कृष्टता की खोज है। हमारे देश के धार्मिक विचारो के परवर्ती विकासों के दौरान वेदान्त का यह पक्ष प्राय: उपेक्षित रह गया था। अब हमें गीता के इस पक्ष को, उसके समस्त व्यावहारिक पहलुओं के साथ बाहर निकालना होगा।

गीता में जो एक तरह की सहजता है, उसे हम प्राय: बिसार देते हैं। हम चीजों को जटिल बना देने के आदी है। हम सहज चीजों को महत्त्व नहीं दे पाते। मनुष्य का मन धर्म तथा दर्शन के नाम पर ग्रन्थ, वेशभूषा, अनुष्ठान आदि के रूप में कुछ असाधारण चीजें चाहता है। सहज चरित्र या सहज नैतिक सौन्दर्य को कोई खास महत्त्व नहीं दिया जाता। सहज सौन्दर्य सामान्य लोगो की समझ में नहीं आता। सहज सत्य तरह तरह से आच्छन्न रहता है और हम शुद्ध सत्य नहीं, बल्कि आच्छन्न सत्य को ही पाते हैं। जब हम गीता पर आते हैं, तो इसमें उस सहज सत्य की प्रस्तुति मिलती है, जो हमें जीवन की समस्याओं के पार जाने में सहायता करती है। यह हमें सुखों तथा दु:खों और अच्छाई तथा बुराई की समस्त आसक्तियों से मुक्त कर देती है। यह हमें चरम शान्ति और बाह्य एवं आन्तरिक – सभी उपाधियों से मुक्ति प्रदान करती है। हम किसी भी कीमत पर व्यक्ति की इस स्वाधीनता को जारी रखना चाहते हैं। दर्शनशास्त्र जीवन को यही प्रदान करने की चेष्टा करता है। यह यदि हमारे पास हो, तो फिर हमें और किस चीज की जरूरत है? जो इसे प्राप्त कर लेता है, वह जीवन में आयुवृद्धि के बावजूद तरो-ताजा बना रहता है और मृत्यु-पर्यन्त नवजात शिशु के समान ताजगी बनाये रखता है। उसके पास मार्गदर्शन के लिए ज्ञान है। यही दर्शन की सच्ची कसौटी है – दर्शन बिना जले-भुने जीवन के संघर्षो से गुजरने में हमारी सहायता करता है; यह हमें यात्रा के प्रारम्भ के समान ही अन्त तक तरो-ताजा बनाये रखने में सहायक होता है।

दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण ने ये जीवनदायी विचार प्रदान किये हैं। जिनके पास आवश्यक साहस तथा मनोबल है, वे गीता की सच्ची शिक्षा को समझ सकते हैं। जो मन शोक-सन्तप्त या आसक्त है, वह इन सशक्त भावों को नहीं समझ सकता। एक थका हुआ मन सत्य को नहीं समझ सकता; उसे शान्त तथा बलवान बनाने के बाद ही शिक्षा उसमें प्रवेश करके जड़ जमा सकेगी। शोक-सन्तप्त अर्जुन को पहले शान्त तथा स्थिर किया गया और तब उन्हें सत्य का ज्ञान दिया गया। दु:ख से पीड़ित अवस्था में हम चीजों को एक संकीर्ण दृष्टि से देखते हैं; और शान्त होने पर हम वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। इसीलिए अर्जुन कहते हैं, "मेरी समझ में नहीं आता कि मेरे लिए हितकर क्या है। मैने तुम्हारी शरण ली है, अत: अब तुम्ही मुझे बताओ।"

शिक्षादान समाप्त हो जाने के बाद अट्ठारहवें अध्याय (श्लोक ७२-७३) मे श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते है, "क्या तुम सन्तुष्ट हो? क्या तुम्हारे संशय दूर हुए?" –

क्वचित् एतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चित् अज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥

– "हे पार्थ, क्या तुमने एकाग्र चित्त से इसे सुना; हे धनंजय, क्या तुम्हारे अज्ञान की भ्रान्ति दूर हुई?"

(शेष अगले पृष्ठ पर)

भारत को शक्तिशाली कैसे बनाएँ

भारतरत्न डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

(सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा प्रधानमंत्री के भूतपूर्व वैज्ञानिक सलाहकार डॉ. अब्दुल कलाम २१ जनवरी २००१ ई. को मैसूर के रामकृष्ण मिशन विद्याशाला में पधारे थे। उन्होंने बड़े रुचिपूर्वक विद्यालय का परिदर्शन किया और छात्रों के समक्ष अपने विचार रखे। उनके आंग्ल व्याख्यान का सारांश हमारे 'प्रबुद्ध-भारत' मासिक के पिछले अगस्त अंक में प्रकाशित हुआ था, पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

श्रीरामकृष्ण विद्याशाला के साथ मेरा हार्दिक सम्बन्ध है, अत: यहाँ आकर मै निश्चित रूप से प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। यह ऐसा स्थान है, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म एक साथ क्रियाशील हैं। इस तरह की आदर्श व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कहा गया है – "यदि आपमें सच्चाई है, तो अन्य किसी चीज का महत्त्व नहीं और यदि आपमें सच्चाई नहीं है, तो भी अन्य किसी चीज का महत्त्व नहीं है।"

इस परिसर में प्रवेश करते समय मैंने प्रकृति, संन्यासियों, बच्चों और सबको मुस्कुराते देखा। मैं आप सबके प्रति अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करता हूँ। मुस्कुराहट एक अद्भुत चीज है। यही एक चीज है, जिसका आप उन्मुक्त भाव से वितरण कर सकते हैं। इसके लिए कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती। यदि आप मुस्कुराते हैं, तो इसके द्वारा आप अपने चारों ओर प्रसन्नता बिखेरते हैं। इससे आपका पूरा परिवेश प्रसन्नता से उत्फुल्ल हो उठता है। मुस्कुराहट के बिना मित्रता, प्रसन्नता और अच्छा जीवन सम्भव नहीं। ईश्वर आप पर कृपा करें।

जब मैं भी आप लोगों की भाँति तरुण था, उस समय की एक घटना आपको बताता हूँ। चेन्नै के प्रौद्योगिकी संस्थान में प्रवेश लेते समय मैंने विज्ञान विषय चुना था, क्योंकि यह मानव-जीवन को समृद्ध बनाता है और विभिन्न तकनीकियों के बीच सम्बन्ध तथा मित्रता स्थापित करता है।

भौतिकी के बाद मैंने उड्डयन अभियंत्रिकी (ऐरोनॉटिकल इंजीनियरिंग) को चुना, क्योंकि उस समय मेरी आकांक्षा हवा में उड़ने की थी। मैं पृथ्वी से ऊपर उठना चाहता था। मैंने साक्षात्कार के लिए आवेदन किया और मुझे उसके लिए कार्ड भी मिल गया। यह साक्षात्कार देहरादून में हुआ और यह एक बड़ा कठिन साक्षात्कार था। उन लोगों ने स्पर्धात्मक भाव से शरीर तथा बुद्धि की परीक्षा ली। कुल मिलाकर बारह प्रत्याशियों की तालिका बनी, जिनमें से ग्यारह का चयन होना था। मुझे पता चला कि स्वास्थ्य के आधार पर निश्चित रूप से और भी दो-एक लोगों की छटनी होगी। दुर्भाग्यवश मैं ही वह प्रत्याशी निकला।

बड़ी निराशा तथा उदासी के साथ मैं ऋषीकेश होते हुए लौट पड़ा। वहाँ गंगाजी में स्नान करने के बाद मैंने धोती पहन रखी थी। पास में ही अत्यन्त सुन्दर स्वामी शिवानन्द जी का आश्रम था। मेरा मन उस आश्रम में जाने को आकृष्ट हुआ और मैंने उसमें प्रवेश किया। उस समय वहाँ भगवद्गीता पर व्याख्यान चल रहा था। प्रतिदिन भजन और प्रार्थना के बाद स्वामीजी चर्चा के लिए श्रोताओं में से ही किसी का चयन किया करते थे। उसी दिन मुझको ही वह अवसर प्राप्त हुआ। मेरे चेहरे पर छाई निराशा तथा दु:ख को स्वामीजी ने देख लिया। मैंने उनसे सारी बातें कह सुनायी। उन्होंने गीता से उद्धरण देते हुए मुझे आश्वासन दिया – भय से त्रस्त अर्जुन के समक्ष भगवान श्रीकृष्ण ने अपना विश्वरूप प्रकट किया था। श्रीकृष्ण ने उन्हें 'पराजय के भाव पर विजय' पाने का सन्देश दिया। वही मेरे लिए भी एक सन्देश बन गया।

भारत एक विकासशील देश है। भारत को शक्तिशाली बनाने के लिए हममें सशक्त बनने की कामना का अनुभव हो। पराधीनता हमें कभी सहन नहीं करना चाहिए। हमें निश्चित रूप से स्वप्रद्रष्टा होना चाहिए और अपने सपनों को विचारों में परिणत करना चाहिए। विचार ही कार्यो में परिणत होंगे। स्वामी विवेकानन्द ने केवल धर्मप्रचार नहीं किया, वे एक कर्मठ व्यक्ति थे। भारत में प्राकृतिक तथा मानविक संसाधनों का प्राचुर्य है। इसके साथ आदर्शों को जोड़ दें, तो इससे धन-समृद्धि की उत्पत्ति होगी। यह देश को रूपान्तरित करके इसे एक विकसित राष्ट्र में परिणत कर देगा। हमारे देश की आबादी का एक मुख्य अंश ३५ वर्ष से कम आयु के युवक हैं और वे इस बदलाव में एक सशक्त भूमिका निभा सकते हैं।

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

अर्जुन ने उत्तर दिया –

नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात् मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह: करिष्ये वचनं तव ।।

– "हे अच्युत, तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, संशय दूर हो गये हैं और स्मृति लौट आयी है। अब तुम जो भी आज्ञा दोगे, मैं वैसा ही करूँगा।"

गीता प्रकाश लाती है और संशय की छाया को दूर करती है। गीता ने अर्जुन की भ्रान्ति को दूर कर दिया; यही इसकी मौलिकता तथा शक्ति है। हम सब के मामले में भी इसके उद्देश्य को तभी पूरा हुआ माना जायेगा, जब यह हमारे द्वन्द्वों तथा शंकाओं को दूर कर चुकी होगी और हमें जीवन को स्थिर तथा समग्र रूप में देखने में समर्थ बना चुकी होगी। ❖ **(क्रमश:)** ❖

भारत को निश्चित रूप से गरीबी की बेड़ियों से मुक्त होना होगा। यदि भारत का ऐसा रूपान्तरण होना है, तो इसके सकल-घरेलू उत्पाद (GDP) की दर को वर्तमान ६% से ११% तक ले जाना होगा। गाँवों का भी रूपान्तरण करके उन्हें निवेशकों के लिए आकर्षक बनाना होगा। ग्रामीण क्षेत्रों को भी यातायात की सुविधाओं के द्वारा भलीभाँति जोड़ना होगा और उनमें दूरसंचार के साधन पहुँचाने होंगे। स्वाधीनता आन्दोलन के समय हमारी युवा पीढ़ी ने एक आजाद भारत का स्वप्न देखा था और आज की युवा पीढ़ी को एक विकसित भारत का स्वप्न देखना चाहिए।

वैज्ञानिक तथा विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों ने विकास के लिए मूलभूत क्षेत्रों की पहचान कर ली है और तदनुसार भारतीय समाज को एक ज्ञानमूलक समाज के रूप में परिणत करना होगा। इस प्रकार ज्ञानभित्तिक समाज में बदलाव भारतीय समाज का रूपान्तरण करेगा और अन्ततः आर्थिक समृद्धि की सृष्टि करेगा। सूचना तकनीक (कम्प्यूटर) तथा संचार-साधनों के फैलाव को इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। इस ज्ञानभित्तिक समाज में जैव-प्रौद्योगिकी तथा जैव-विज्ञान का सम्मिलन होगा। इससे सूचना तथा मनोरंजन जैसे सेवा-क्षेत्रों में भी लाभ मिलेगा।

'टेक्नालॉजी इन्फारमेशन फोरकास्ट असेसमेंट कौंसिल' – प्रौद्योगिकी सूचना पूर्वानुमान आकलन समिति (T.I.F.A.C) के मतानुसार भारत का सबसे बड़ी समस्या है इसकी ७०% आबादी का ग्रामीण इलाकों में निवास करना और उनमें भी ४०% लोगों का गरीबी रेखा के नीचे होना। समिति की सलाह है कि भारत को इस समस्या पर विजय पाने के लिए चार मूलभूत मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करना होगा – कृषि तथा खाद्य-प्रसंस्करण, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा संगणकों की सहायता से प्रशासन। कृषि और खाद्य-प्रसंस्करण जहाँ हमें भोजन तथा पोषण की सुरक्षा प्रदान करेंगे, वहीं शिक्षा तथा स्वास्थ्य-सेवा देश में एकता एवं सामाजिक सुरक्षा लायेंगे।

मित्रो, जब कभी आपको मीडिया या किसी अन्य साधन द्वारा सांस्कृतिक आक्रमणों से परेशानी महसूस हो, तब आप अपने को सभ्यतामूलक आनन्द की सन्तान सोचें। हमने ऐसे अनेक आक्रमण झेले हैं और अनेक राजवंशों द्वारा शासित हुए हैं। आज भारत आक्रान्ताओं से मुक्त और स्वाधीन है। हमारे देश में पारिवारिक आदर्शों तथा आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व दिया जाता है। अनेकों विकसित राष्ट्र इस प्रकार के परिपूर्ण जीवन का स्वप्न देख रहे हैं। हमारा दर्शन है – उन्हें दे दो और जीवन-यापन करो।

मित्रो, जब आप लोग हमारे समाज के बारे में खूब बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी अशान्ति के बारे में सुनते हैं, तो आप लोगों को सोचना चाहिए कि हमारा विभिन्न धर्मों तथा भाषाओं वाले सौ करोड़ लोगों का देश है। हम इस भूमण्डल पर निरन्तर चलनेवाले सबसे बड़े प्रजातान्त्रिक राष्ट्र हैं। किसी भी दूसरे देश के पास हमारे समान ऐसे अनुभव की असाधारण शक्ति नहीं है। अनुभव ही शान्ति का संसाधन है। इस सुन्दर सन्देश का सर्वत्र प्रचार करो।

बन्धुओ, आप लोग इस राष्ट्र की प्रचण्ड शक्ति हैं। आपका खून-पसीना इस विकासशील भारत को एक विकसित राष्ट्र में परिणत कर देगा। मेरी यही परिकल्पना है – "भारतीय सहस्राब्दी मिशन २०२० – एक विकसित भारत।" एक महान् कवि की इस सुविख्यात् उक्ति का स्मरण करें – "जब मैं कर्म करता हूँ, तो ईश्वर मुझे सम्मानित करता है।" आइये, हम एक विकसित भारत के लिए कर्म में जुट जायँ। ❖

उत्तम स्वास्थ्य के उपाय (१)

डॉ. सत्यानन्द चक्रवर्ती

(स्वास्थ्य-रक्षा विषयक कुछ नियम रामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्बोधन' के अप्रैल १९९९ के अंकों से शुरू होकर क्रमशः प्रकाशित हुए थे। वहीं से उनका आप लोगों के लाभार्थ श्रीमती मीरा लाहिड़ी ने हिन्दी अनुवाद किया है, जिन्हें हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

❑ प्रातःकाल यथाशीघ्र शय्या त्यागने के बाद मुँह धोकर अथवा बिना धोये ही कम-से-कम तीन-चार गिलास शीतल जल पीने की आदत डालनी चाहिए।

❑ शय्या त्यागने के बाद शौच जाना एक अच्छी आदत है, पर वेग न आने पर भी जबरदस्ती मलत्याग की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। पेट साफ रहने से शरीर तथा मन प्रफुल्ल रहते हैं, मलत्याग के समय किसी अच्छी घटना का स्मरण करना अच्छा है।

❑ प्रतिदिन प्रातःकाल कम-से-कम आधे से एक घण्टे टहलने के लिये जाना चाहिये। टहलते समय अपनी स्वाभाविक गति से ही चलना चाहिये। वैसे कुछ विशेषज्ञ तेज चलने की सलाह देते हैं। टहलते समय धर्मप्राण व्यक्ति को ईश-स्मरण करना चाहिये। विद्यार्थी अपने पहले पढ़े पाठों पर मनन करें।

❑ सुबह-शाम सुविधानुसार हल्का व्यायाम करना चाहिये। आयु पचास वर्ष से अधिक होने पर भारी व्यायाम न करें।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द के सन्देश की प्रासंगिकता

आचार्य पं. विष्णुकान्त शास्त्री

(८ अक्तूबर, २००१ को विवेकानन्द विद्यापीठ, रायपुर द्वारा प्रतिवर्ष की भाँति अयोजित स्वामी आत्मानन्द व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रमुख अतिथि के रूप में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल महामहिम पं. विष्णुकान्त शास्त्री ने जो विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया, प्रस्तुत लेख उसी का एक अविकल अनुलिखन है। टेप पर से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री वीरेन्द्र वर्मा ने सम्पन्न किया है। – सं.)

आज का जो विषय है, यह मात्र इसलिए रखा गया है कि इसी बहाने हम स्वामी विवेकानन्द जी के सन्देशों का बारम्बार स्मरण करें। स्वामीजी का सन्देश समय-सापेक्ष नहीं था। ऐसी बात नहीं कि उसकी केवल अपने समय में ही उपयोगिता रही हो। वह सार्वभौमिक सत्य है, सार्वकालिक सत्य है। सब देशों में, सब कालों में उनके सन्देश की महिमा अक्षुण्ण रहने वाली है। यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि अपनी अपनी पात्रता के अनुरूप हम उसका कितना ग्रहण कर पाते हैं। स्वामीजी ने काफी-कुछ लिखा है, बहुत-से व्याख्यान दिये हैं। उनका साहित्य दस खण्डों में संकलित है, पर अपने सन्देशों का सार-तत्त्व उन्होंने एक सूत्र में व्यक्त किया है। वह सूत्र मैं बारम्बार दुहराता रहता हूँ – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।**

हम क्यों जी रहे हैं? हमारे जीवन की सार्थकता किसमें है? हम अपना जीवन कैसे जीयें? ये प्रश्न हम सबको मथते हैं। यदि नहीं मथते हों तो मथने चाहिए। कोई भी विवेकी व्यक्ति नदी के प्रवाह में पड़ी हुई लकड़ी की भाँति बहता रहे – यह उचित नहीं है। जड़-लकड़ी प्रवाह की दिशा में ही बहती रहेगी, पर हम लोगों में जो विवेक है, जो चैतन्य का अंश है, हम इस बात के लिए प्रयासशील हैं कि हमारा जीवन न केवल सफल, बल्कि चरितार्थ हो। मैं चरितार्थता और सफलता में भेद करता हूँ। कई बार लौकिक दृष्टि से वे लोग सफल माने जाते हैं, जो छल-छद्म करके किसी बड़े पद पर पहुँच गये या येन-केन-प्रकारेण रुपये कमा लिए। लौकिक दृष्टि से ऐसे लोग सफल माने जा सकते हैं, पर उनका जीवन चरितार्थ या कृतार्थ नहीं है। कभी-कभी तो आज के सफल लोगों को देखकर लगता है कि हे भगवान्, हम ऐसे सफल न बनें। फिराक गोरखपुरी का एक शेर मुझे बारम्बार याद आता है –

जो कामयाब हैं, दुनिया में क्या कहिये।
है इससे बढ़के भले आदमी की क्या तौहीन।

आज के जमाने में कामयाब! कैसे लोग कामयाब हो रहे हैं? जल्दी-से-जल्दी, ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कैसे कमा रहे हैं! दूसरों को लंगड़ी मारकर, निरन्तर दल-बदल करते हुए सत्तानशीन हो जानेवाले लोग! क्या ये हमारे आदर्श हो सकते हैं? क्या इनसे हमको प्रेरणा मिल सकती है? क्या इनका जीवन चरितार्थ है? लौकिक दृष्टि से सफलता में जो दाव-पेंच है, जो छल-छद्म है, विवेकानन्द उसको स्वीकार नहीं करते। हमारा जीवन चरितार्थ कैसे होगा? सार्थक कैसे होगा? किसलिए परमात्मा ने हमको यहाँ भेजा है? हम क्या करें जिससे कि हमारा जीवन धन्य हो सके? इस बात को उन्होंने सूत्र में कह दिया – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्-हिताय च।**

हम आप क्या चाहते हैं? साधारण मनुष्य क्या चाहता है? स्वामीजी ने कहा कि साधारण मनुष्य सुख चाहता है। सच्चा सुख कैसे मिलेगा – यह बात उसकी समझ में नहीं आती, इसीलिए कई बार वह बहकता है। यदि उसे सही ढंग से बताया जाय कि सच्चा सुख किसमें है, तो वह सही रास्ते पर चलेगा। परन्तु मोटे तौर पर सामान्य लोग जिस चीज को एक सीमा तक अनिवार्य मानते हैं, उनमें पहली बात यह है कि बिना पैसे से काम कैसे चलेगा? पैसे तो कमाने होंगे। पैसे न हों तो आदमी तो भूखा मरेगा। गोस्वामी तुलसीदासजी से पूछा गया कि सबसे बड़ा दुख क्या है? तो उन्होंने नि:संकोच कहा – **नहि दरिद्र सम दुख जग माही** – दरिद्रता से बढ़कर इस समाज में, इस संसार में कोई दु:ख नहीं है। उनसे पूछा गया कि यदि दरिद्रता सबसे बड़ा दु:ख है, तो क्या प्रचुरता सबसे बड़ा सुख है? तो उन्होंने कहा – नहीं, प्रचुरता नहीं, सबसे बड़ा सुख है – सच्चे सन्त का संग, संत से मिलन –

नहि दरिद्र सम दुख जग माही।
संत मिलन सम सुख जग नाही।।

हमारे यहाँ दरिद्रता के साथ कभी समझौता नहीं किया गया। हम मानते हैं और स्वयं स्वामीजी ने यह बात बारम्बार कही है कि गरीबी हमारे देश का एक अभिशाप है। हमें गरीबी से ऊपर उठना ही होगा – यह सभी स्वीकार करते हैं।

साईं इतना दीजिये जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।।

अत: पहली बात कि आवश्यकता के लायक पैसा होना चाहिए। हमारे देश में मनुष्य की सबसे बड़ी कामनाओं को चरितार्थ करने के लिए एक शब्द कहा गया है – **पुरुषार्थ।**

आजकल कभी-कभी पुरुषार्थ शब्द का कठिन परिश्रम या उद्योग के अर्थ में प्रयोग होता है। यह इसका गौण अर्थ है। इसका वास्तविक अर्थ है – **पुरुषै: अर्च्यते इति** – मनुष्यों के द्वारा जो चाहा जाय। क्या चाहा जाता है? – **सुख**। सुख कैसे मिलेगा? पहली बात समझ में यह आती है कि हमें अपने योगक्षेम चलाने में सक्षम होना चाहिए। इतना धन हमें जरूर कमाना चाहिए। अत: **अर्थ** एक पुरुषार्थ है और इसे भारतीय समाज में एक पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

लेकिन वहीं यह भी कहा गया कि अर्थ कहीं अनर्थ का हेतु न बन जाय। शंकराचार्य ने डंके की चोट पर कहा – **अर्थम् अनर्थं भावय नित्यम्** – तुम अनर्थ रूपी अर्थ की उपासना करोगे, तो विपथगामी हो जाओगे। स्वामीजी ने पूर्व को देखा था और पश्चिम को भी देखा था। पश्चिम की समृद्धि देखकर उन्होंने कहा था – वहाँ बाहर से प्राचुर्य तो दिखता है, पर भीतर रुदन है, हाहाकार है; दूसरी ओर हमारे देश में गरीबी है, अशिक्षा है, कई तरह के अन्धविश्वास हैं, लेकिन अब भी इस देश का हृदय स्वस्थ है और भीतर निहित धर्म का बल भी छलक रहा है। स्वामीजी ने दोनों बातें कही थी। इसलिए आज के युग में हमारी नई पीढ़ी के पीछे एक भूत सवार हो गया है। खासकर जब से उदारीकरण और भूमण्डलीकरण का दौर चला है, तब से लोग सोचते हैं कि कैसे हम जल्दी-से-जल्दी, ज्यादा-से-ज्यादा रुपये कमा लें और मौज-मजे करें – यही सर्वाधिक आवश्यक है। कैसे हम बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में नौकरी पा लें, क्योंकि ये कम्पनियाँ महीने में पचास हजार से डेढ़ लाख तक वेतन देती हैं। हमारी परम्परा कहती है कि यह सुख का कारण नहीं हो सकता। स्वामीजी ने भी यही कहा और आज की दृष्टि से यह बात स्वीकार करनी होगी कि हमें केवल उतने ही धन से प्रयोजन है, जितने से सम्मानपूर्वक जीवन-निर्वाह हो। केवल धन के लिए पागल होकर दौड़ना अपने जीवन को गलत दिशा में लगा देना है और इसका प्रमाण आज के युग में देश की सबसे बड़ी व्याधि भ्रष्टाचार है। इस भ्रष्टाचार रूपी दानव ने सारे समाज के विकास को रुद्ध कर दिया है। आजादी के बाद से उसकी स्वर्ण जयन्ती तक के काल में महँगाई और भ्रष्टाचार की ही ज्यादा प्रगति हुई है। यह पैसे के पीछे दौड़ने का पागलपन है। इससे सच्चा सुख नहीं मिलेगा, यह हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने अनेकों बार इस बात को समझाया है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम का एक मौलिक अन्तर बताते हुये कहा है कि पश्चिम की दृष्टि होती है – ज्यादा-से-ज्यादा कैसे प्राप्त करें। और पूर्व की दृष्टि है कि कम-से-कम में कैसे ससम्मान तथा गौरवपूर्वक जीयें। भारतवर्ष में हमारा बड़प्पन पैसे से नहीं, ज्ञान और चरित्र से निर्धारित होता था। इसलिए धन पुरुषार्थ की एक सीमित आवश्यकता है, वह चरम स्थिति तक जरूरी नहीं है। आप ध्यान से देखें – हमारा सारा-का-सारा अर्थ हमारे बाहर है। हमारा मकान, हमारा घर, हमारी मोटर, हमारा बैंक-बैलेन्स, हमारा रुपया-पैसा – सब बाहर है। कोई हमको-आपको पहचानता नहीं है। हम कहते हैं कि मकान हमारा है, पर मकान हमें नहीं पहचानता। जिस गाड़ी को हम अपनी कहते हैं, वह भी हमें नहीं पहचानती। यह एकतरफा प्रेम है। यह वास्तविक स्थिति नहीं है। अर्थ की तुलना में अधिक आन्तरिक है – काम। काम का अर्थ केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्ध नहीं है। काम का तात्पर्य है – अपनी ललित भावनाओं को, अपने सौन्दर्य-बोध को, अपने रमणीयत्व को हम कैसे अभिव्यक्त करते हैं। हमारी मान्यता के अनुसार काम रूपी पुरुषार्थ के अन्तर्गत साहित्य भी है, संगीत भी है, नृत्य भी है, नाट्य भी है, चित्र भी है और स्थापत्य भी है। ये सारे सौन्दर्य के प्रसाधन और साथ-ही-साथ मनुष्य के आत्म-विस्तार करने का भाव और फिर नर-नारी के निविड़ सम्बन्धों को भी इस काम पुरुषार्थ के भीतर लिया गया है। निश्चय ही अर्थ-पुरुषार्थ की तुलना में काम-पुरुषार्थ आन्तरिक है, भीतरी है।

काम की स्थिति हमारे मन में है और मन में स्थित रहकर जब हम काम का उपभोग करते हैं, तो गीता (७/११) में भगवान कहते हैं कि अर्थ और काम – दोनों ही धर्म-सम्मत हों – **धर्माविरुद्धः भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ** – जीवों की धर्म के अविरुद्ध कामनाएँ मैं ही हूँ। 'अर्थ' तो स्पष्ट रूप से साधन मात्र है, वह साध्य नहीं हो सकता। कामोपभोग के लिए, विलासितापूर्ण जीवन के लिए और इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी अर्थ साधन है, पर अर्थ के उपभोग में सद्विवेक नहीं है। भर्तृहरि अपने 'नीतिशतकम्' (४३) में कहते हैं –

दानं भोगो नाशस्तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।

वही धन धन्य है, जिसकी दानरूपी पहली गति होती है – **सो धन धन्य प्रथम गति जाकी**। यही अर्थ का सर्वश्रेष्ठ उपयोग है। अतः अर्थ का साधन के रूप में उपयोग तो समझ में आता है, पर इसका साध्य के रूप में उपयोग पागलपन है। 'काम' पुरुषार्थ के द्वारा हम अपनी ललित चेतनाओं को कैसे बहिर्मुख, विभ्रान्तकारी या आत्मघाती होने से बचाएँ, यह भी हमारे पुरखों ने बारम्बार बताया है। काम का सुख संस्पर्शक सुख है। आँख जब सुन्दर रूप को देखती है, नाक जब सुगन्ध सूँघती है, रसना जब सुस्वादु भोजन करती है, त्वचा को जब कोमल स्पर्श प्राप्त होता है, कान जब मधुर शब्द सुनते हैं, तो हम सुख का अनुभव करते हैं। परन्तु ये सुख वास्तविक सुख नहीं हैं। गीता में स्पष्ट कहा गया है –

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधाः ।। ५/२२

जो स्पर्श से होनेवाला भोग है, विषयों तथा इन्द्रियों के योग से पैदा होनेवाला सुख ही दुःख की जड़ है। वह शुरू होता है, समाप्त होता है और फिर हमें तरह तरह से सन्तप्त करता है। इसलिए हमारे देश में अर्थ और काम – दोनो को पुरुषार्थ तो माना गया, पर 'धर्म' की इससे वरेण्य स्थिति मानी गयी। ध्यान रहे कि धर्म की स्थिति और भी आन्तरिक है, मन से भी एक कदम आगे बढ़कर। मन तथा इन्द्रियों में काम-पुरुषार्थ रहता है और मन के परे जो बुद्धि है – शुद्ध बुद्धि या विवेक है, उसी में 'धर्म' का निवास है।

धर्म क्या है? **धारणात् धर्मः, धर्मो धारयते प्रजाः**, जो हम सबको धारण करे, जिससे हम-आप अच्छे मनुष्य बनें। मनुस्मृति (६/९२) कहती है –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचम् इन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यम् अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

कैसा विचित्र हमारा धर्म है ! इसमें मन्दिर नहीं, मस्जिद नहीं, गिरजा नहीं। वे भी धर्म के अंग हैं, लेकिन मूलतः हममें धैर्य हो, क्षमा हो, इन्द्रिय-निग्रह हो, बाहरी-भीतरी शुचिता हो, हम चोरी न करें, अपने मन को नियंत्रित करें, हममें शुद्ध बुद्धि हो, विद्या हो, सत्य हो, अक्रोधता हो। तब यह धर्म विकसित होता है और बड़ी बात यह है कि 'धर्म' आभ्यान्तर है और उसका निवास बुद्धि में है, पर स्वामीजी वहीं नहीं रुकते – **यो बुद्धेः परतस्तु सः**, बुद्धि के भी परे जो परम तत्त्व है, उसे भी आत्मसात् करते हैं। उसे स्वयं से अभेद बताते हैं। यह आत्मा का सहज स्वरूप ही 'मोक्ष' है। इस पर आगे चर्चा होगी।

अब हम देखेंगे कि वस्तुतः हमारे पुरखों ने क्या किया। अर्थ और काम विपथगामी न हो जाय, हम निर्लज्ज और अवैध पद्धति से अर्थोपार्जन न करें, कामोपभोग न करें, इसलिए हमारे पुरखों ने अर्थ तथा काम को धर्म तथा मोक्ष से सम्पुटित कर दिया। इस बात पर विचार कीजिये कि जब कभी हम अपने जीवन के पुरुषार्थ बताते हैं, तो उन्हें इसी क्रम में रखते हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म को पहले क्यों लाते हैं? क्योंकि हम जानते हैं – **धर्मात् अर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते।** धर्मपूर्वक हम जो उपार्जन करेंगे और जो उपभोग करेंगे, उससे हमारा जीवन सही दिशा की ओर जायेगा, इसलिए धर्म को अर्थ तथा काम के पहले रखा गया। यद्यपि अर्थ की स्थिति बाह्य और काम की स्थिति आभ्यान्तर इन्द्रियों एवं मन में, धर्म की स्थिति उससे भी सूक्ष्म बुद्धि में और मोक्ष की स्थिति आत्मा का सहज रूप। इसलिए धर्म और मोक्ष से सम्पुटित हमारा अर्थ और काम चले।

स्वामीजी ने बारम्बार यह बात दुहराई है कि भारतवर्ष की चेतना धर्म पर अवलम्बित है। अगर कोई एक तत्त्व भारत को भारत बनाता है, तो वह धर्म है। लेकिन धर्म के किस तत्त्व को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। ध्यान दीजिए, उन्होंने सबसे ज्यादा जोर दिया है – सेवा-धर्म के ऊपर। उनके गुरु श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें समझाया था – **जीवों पर दया नहीं, शिवबोध से उनकी सेवा।** क्योंकि यदि तुम जीवों पर दया करोगे तो इससे तुममें अहंकार जगेगा। तुम स्वयं को उन्नत भूमिका में रखकर जीव का कल्याण कर रहे हो, ऐसा अहंकार तुमको विपथगामी कर देगा और इसलिए उन्होंने कहा – जीव के ऊपर दया करने का अहंकार छोड़कर शिवज्ञान से उनकी सेवा करो। यहाँ देखिये वे कैसे मोक्ष को धर्म से जोड़ते हैं। ईशावास्य उपनिषद का पहला मंत्र है – **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्** – जो कुछ भी जड़ और चेतन है, इसका कण-कण परमात्मा के भाव से आच्छादित कर दो। सबमें परमात्मा का साक्षात्कार करो। इसी बात को श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं – **शिवज्ञाने जीवसेवा।** विवेकानन्द ने कहा – जो आत्मा तुममें और मुझमें है, वही चींटी में भी है, अतः चींटी के प्रति भी सम्मान तथा सद्भाव रखते हुए जान-बूझकर उसे कुचलकर न चलो। एक हिन्दी कहावत है –

राजा चले हाथी-घोड़ा पालकी सँवार के।
साधु चले पैंया पैंया कीड़िया निहार के ।।

राजा हाथी, घोड़े तथा पालकी पर सज-सँवरकर चलता है और साधु पैदल चलता है; कीड़ों, चींटियों आदि को देखते हुए चलता है कि कहीं कुचल न जायँ। दोनों में कितना अन्तर है ! एक में अहंकार है और दूसरे में विनम्र-भाव है।

स्वामीजी ने इस मंत्र को स्वीकार किया – **जीवे दया नय शिवज्ञाने जीवसेवा।** कैसे सेवा करें? आपको जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि उन्होंने 'लक्ष्मी-नारायण' के देश में 'दरिद्र-नारायण' की स्थापना की। उन्होंने कहा – **दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव** – निर्धन और अपढ़ ही तुम्हारे लिए सबसे बड़े देवता है। **नहि दरिद्र सम जग दुख माहीं** – दरिद्रता से कोई समझौता नहीं। **दरिद्रदेवो भव** – दरिद्रों की सेवा अर्थात् उन्हें स्वावलम्बन की शिक्षा दो। उन्हें अपने पाँव पर खड़े होने के उपाय बताओ। वे सही ढंग से जीविकोपार्जन कर सकें, उन्हें इसकी योग्यता दो। **मूर्खदेवो भव** – जो अशिक्षित हैं, अज्ञानी हैं, उन्हें ज्ञान दो, शिक्षित करो। पीड़ितों का उपचार करो। कलकत्ते में प्लेग की महामारी के समय उन्होंने स्वयं रोगियों की सेवा की। यह सेवा का धर्म रामकृष्ण मिशन में सबसे बड़ा माना गया है। अपने गुरु की दी हुई इस सीख को रामकृष्ण मिशन के साधु-संन्यासी कैसी निष्ठा के साथ निभा रहे हैं। शिक्षादान में, चिकित्सा में, स्वावलम्बन की शिक्षा देने में रामकृष्ण मिशन की कोई तुलना नहीं हो सकती।

धर्म में भी सेवाधर्म पर बल देते हुए वे कहते हैं – वहाँ भी मत रुको, उससे एक कदम और आगे – **आत्मनो मोक्षार्थम्** – अपनी मुक्ति। हम जी इसलिए रहे हैं, भगवान ने हमें संसार में इसलिए भेजा है कि हम अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव करें। हम कौन हैं? क्या हम केवल नाम हैं? क्या हम केवल रूप हैं? क्या हम केवल देह हैं? मेरा नाम विष्णुकान्त शास्त्री कैसे हो गया? मेरे पिता ने यह नाम रख दिया। यह नाम मेरे साथ चिपक गया। यदि राधाकान्त रख देते, शिवकान्त या कोई और नाम रख देते तो? यह नाम मुझ पर आरोपित हैं। यह रूप भी 'मैं' नहीं हो सकता। अपने रूप, प्रतिक्षण बदलते रूप को मैं अपना आपा मान लूँ? यह मेरा आपा नहीं है। मैं इस नाम और रूप में सिमटकर छोटा हो गया हूँ, कट गया हूँ, टुकड़ों में बँट गया हूँ। मैं यह जड़ देह नहीं हूँ। इस बात

की चेतना स्वामीजी ने बारम्बार जगायी। 'मोक्ष' शब्द का अर्थ है – छुटकारा। किससे छुटकारा? कैसे मिलेगा छुटकारा? स्वामीजी ने दो टूक शब्दों में कहा – अज्ञान से छुटकारा। तुम अपने को गलत समझते हो कि तुम नाम-रूपधारी सीमित सत्तावाले व्यक्ति मात्र हो। इस अज्ञान के कारण ही स्वार्थी बनते हो, इसी कारण तुम दूसरों के हितों से टकराते हो, इसी कारण तुम अधिक-से-अधिक संग्रह करते हो। यह रास्ता मोक्ष का नहीं है। उन्होंने कहा – त्याग ही मोक्ष का रास्ता है। भगिनी निवेदिता उनकी शिष्या थीं। उन्होंने बालिकाओं का एक विद्यालय चलाया। उनके विद्यालय का आदर्श-वाक्य था – **त्यागात् जायते शक्तिः भगवती** – त्याग से भगवती शक्ति का उदय होता है। इसका विलोम इस प्रकार होगा – **परिग्रहात् जायते शक्ति भोगवती** – परिग्रह हममें भोगवती शक्ति जाग्रत करेगी। भोगवती शक्ति हमें बन्धन में डालेगी।

आप एक बात पर ध्यान दें। स्वामीजी ने 'राजयोग' नाम से 'पातंजल-योगसूत्र' पर एक टीका भी लिखी है। आजकल लोग 'योग' को 'योगा' कहते हैं, सुनकर मुझे बहुत क्लेश होता है। यह आत्महीनता का सूचक है। अँग्रेज यदि कहें तो समझ में आता है, लेकिन हम इसे 'योगा' क्यों कहें? योग का अर्थ केवल आसन नहीं है। यह यम और नियम से शुरू होता है। यम में बतलाया गया है कि संसार से हम कैसे व्यवहार करें। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह – इन पाँच तत्त्वों को हमारे राजयोग की आधारशिला बताया गया है। उनमें केवल एक बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँगा, इसमें बताया गया है कि काम-क्रोध-लोभ ये तीनों बड़े शत्रु हैं। काम को जीतने के लिए ब्रह्मचर्य, क्रोध को जीतने के लिए अहिंसा, लोभ को जीतने के लिए दो बातें होती हैं – एक दूसरे की चीज लेने के लिए हम बेईमानी करें, चोरी करें। इसके लिए कहा गया है – अस्तेय। लेकिन हम अपनी ईमानदारी से खूब कमाएँ, खूब धन पैदा करें, तो क्या हम परिग्रह करें? इस परिग्रह को रोकने के लिए कहा गया है – अपरिग्रह। परिग्रह का मतलब है कि चारों तरफ से एकत्रित करना। अपरिग्रह क्यों कहा गया?

यदि कोई असत्यवादी है, तो क्या संसार में उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। यदि कोई अतिशय कामी है, तो क्या समाज में उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। यदि कोई चोर है या प्रमाणित रूप से भ्रष्टाचारी है, तो क्या उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। जो बहुत क्रोध करता है, क्या उसकी मान्यता होती है? नहीं होती। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य – इन चारों का उल्लंघन करने पर समाज में मान्यता नहीं मिलती। व्यक्ति निन्दित होता है। लेकिन अपरिग्रह का उल्लंघन करनेवाला, परिग्रह करनेवाला, समाज में सम्मानित होता है। यह एक विडम्बना है। परिग्रह से आज का समाज प्रभावित है। इसका निषेध करने के लिए स्वामीजी ने कहा – त्याग ही असली वस्तु है और भगिनी निवेदिता ने कहा – **त्यागात् जायते शक्तिः भगवती।** यदि आप चाहते हैं कि आपका जीवन चरितार्थ हो, सार्थक हो, आपमें भगवती शक्ति का उदय हो, तो उसका रास्ता परिग्रह का नहीं, त्याग का रास्ता है। परिग्रह से भोगवती शक्ति आकर आपको बन्धन में डालेगी। आपका क्या लक्ष्य है? **आत्मनो मोक्षार्थम्** – यदि आप मोक्ष के लिए, अपने चरम मंगल के लिए, चरम कल्याण के लिए प्रयत्नशील हैं, तो आपको भोग का रास्ता छोड़कर त्याग का मार्ग अपनाना होगा। परिग्रही व्यक्तियों का समाज में सम्मान नहीं होना चाहिए। अतिशय परिग्रह करनेवाला राम जाने कैसे ज्यादा कमाता होगा।

मैं बारम्बार कहता हूँ कि भोग की ओर ले जानेवाला परिग्रह हमारे लिए हितकर नहीं हो सकता। इसलिए **त्यागात् जायते शक्तिः भगवती।** यह त्याग हमें मोक्ष की ओर ले जाता है। किसका त्याग? – आसक्ति का, कर्म-बन्धन का त्याग। यदि हम कर्त्ता के भाव से फलाकांक्षा से कर्म करेंगे, तो स्वामीजी ने कहा कि यह दासों की भाँति काम करना हुआ। उन्होंने ईश्वर की भाँति, स्वामी की भाँति काम करने को कहा। स्वामी कैसे काम करता है। गीता (४/१४-१५) कहती है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागयशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

परमात्मा अहर्निश निरन्तर कर्म करते हैं। वे यदि कर्म न करें, तो सृष्टि नष्ट हो जायेगी। परन्तु वे कर्मबन्धन से इसलिए मुक्त है कि सब कुछ करके भी वे अकर्ता हैं। वे कुछ नहीं करते। कर्म करते हुए भी उन्हें फल की स्पृहा नहीं है। विवेकानन्द ने बारम्बार कहा है – गुलाम की तरह काम मत करो; स्वामी की तरह, परमात्मा की तरह काम करो, अकर्ता मानकर काम करो, कर्मफल की स्पृहा से मुक्त होकर काम करो और इस प्रकार अज्ञान से मुक्त हो जाओ। नाम और रूप में स्वयं को बद्ध मत करो, तुम पूरी सृष्टि में व्याप्त हो – **तत्-त्वम्-असि।** उन्होंने कहा था कि यदि मेरे कोई पुत्र होता तो मैं उसे यही बताता – **निखिलः त्वम्** – तुम समस्त हो, पूर्ण हो। उन्होंने कहा कि सारी सृष्टि के साथ स्वयं को एकरूप कर दो। इसीलिए मोक्ष के बाद भी वे शुष्क ज्ञानी नहीं बनना चाहते थे। **आत्मनो मोक्षार्थम्** – अपने मोक्ष के लिए हमें त्याग के द्वारा साधना करनी होगी। हम अपने को आसक्ति से, कर्म-बन्धन से तथा अज्ञान से मुक्त करें और अपने शुद्ध आत्म रूप में, सच्चिदानन्द स्वरूप में अपने भीतरी आनन्द को प्राप्त करें। बाह्य इन्द्रियजनित सुख सच्चा सुख नही हो सकता। भीतर का आन्तरिक सुख ही अक्षय सुख है। सच्चिदानन्द रूप

वह परम आनन्द ही मोक्ष का सुख है। मोक्ष यानि अक्षय सुख। स्वामीजी मस्ती में गाया करते थे –

मनो-बुद्ध्यहंकार-चित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।।

इस चिदानन्द-रूपता की प्राप्ति, अपने को शिव के साथ एक कर देने की भावना – **आत्मनो मोक्षार्थम्** – परमात्मा द्वारा इसीलिए हमारा-आपका जीवन दिया गया है ताकि हम सारे बन्धनों से मुक्त होकर अपनी पूर्णता को प्राप्त करे।

एक बात और कहूँगा और वह यह कि कई बार हमें लगता है कि श्रीरामकृष्ण देव बड़े भक्त और स्वामीजी बड़े ज्ञानी थे। एक सीमा तक यह बात सच हो सकती है, पर मुझे लगता है कि श्रीरामकृष्ण बड़े ज्ञानी थे और स्वामीजी बड़े भक्त थे। श्रीरामकृष्ण ने अपने प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द से कहा था – "तुम निर्विकल्प समाधि में रहना चाहते हो। तुम्हारी चाबी मैं अपने पास रखता हूँ। सारे समाज के मंगल के लिए तुम्हें जीना होगा।" और उन्हें काम में लगा दिया। स्वामीजी शुष्क ज्ञानी नहीं होना चाहते थे। श्रीमद्भागवत (७/९/४४) में भक्त प्रह्लाद भगवान से स्तुति करते हुए कहते हैं –

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ।।

– हे देव ! मुनिगण प्रायः अपनी मुक्ति की कामना लिए मौन धारण करके निर्जन वन में विचरण करते हैं, दूसरों की भलाई से उनका कुछ लेना-देना नहीं है; परन्तु इन तमाम दुखियों को छोड़कर अकेला मुक्त हो जाना मुझे स्वीकार्य नहीं है। सारी पृथ्वी में आपके सिवा इनका मंगल करनेवाला दूसरा कोई नहीं दिखता। आप कृपा करके इन सबका मंगल करें।

इस प्रकार भक्ति के साथ ज्ञान को जोड़ देना – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।** सारे संसार के हित के लिए, सारे संसार के मंगल के लिए मुझे अन्तिम साँस तक काम करना है। **जगद्धिताय च** – ध्यान दें – केवल हिन्दुओं के हितार्थ नहीं, केवल भारत के कल्याण हेतु नहीं, बल्कि सारे जगत् के हित के लिए, सारे जगत् के मंगल हेतु मेरा जीवन समर्पित है। आत्मा क्या केवल भारतवर्ष में है? क्या केवल हिन्दुओ में है? आत्मा सारे विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त है – **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।** सारी सृष्टि में, कण-कण मे व्याप्त परमसत्ता का अनुभव प्राप्त कर लेनेवाला व्यक्ति **जगद्धिताय च** – सारी सृष्टि के मंगल के लिए काम करता है, केवल अपने परिवार, केवल अपनी उपासना-पद्धति के लोगों, केवल अपनी जाति, या केवल अपने देश के लिए नही।

क्या यह सन्देश कभी पुराना पड़ सकता है? क्या इस सन्देश की प्रासंगिकता आज नही है? जिन युद्धों के बीच से हमारा देश अभी गुजर रहा है और एक विश्वयुद्ध की आशंका जो हमें ग्रास कर रही है, क्या उसका निराकरण केवल शस्त्रों से हो सकता है? कभी-कभी अन्याय के प्रतिकार हेतु शस्त्र का प्रयोजन अवश्य हो सकता है। पर अन्याय के द्वारा अन्याय का प्रतिरोध नहीं हो सकता। **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – अपने मोक्ष के लिए और सारे संसार के हित के लिए हमें जीवन जीना चाहिए। त्याग के माध्यम से जीवन जीना चाहिए, सेवा के माध्यम से जीवन जीना चाहिए – यह सन्देश स्वामी विवेकानन्द जी का है। यह सन्देश क्रियान्वित हो रहा है, नहीं तो यह संस्था कैसे बनती। कितने लोगों ने कितना श्रम किया होगा, तपस्या की होगी! कहाँ-कहाँ जाकर भीख माँगी होगी। महामना मालवीय का प्रिय एक दोहा याद आ रहा है –

मर जाऊँ माँगू नहीं अपने हित के काज ।
परमारथ के काज में मोहि न आवत लाज ।।

मैं मर जाऊँगा, पर अपने लिए पैसे नही मागूँगा, मगर समाज के कल्याण के लिए माँगने में मुझे लज्जा नहीं आती और हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय उन्होंने भिक्षा माँग-माँग कर स्थापित किया। उस त्याग के, सेवा के रास्ते पर चलकर ही इस संस्था का विकास हुआ है। समर्पण का यह भाव स्वामीजी के विचारों की ही देन है। इसलिए किसी भी प्रकार की हीनता, दीनता तथा ग्लानि का अनुभव किये बिना हम आग्रहपूर्वक यह दुहराते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का सन्देश सार्वभौम, सार्वकालिक सत्य है – सब देशों के लिए, सब कालों के लिए, सब व्यक्तियों के लिए सत्य है। भगवान से प्रार्थना है कि उनकी कृपा से हम इस सन्देश के अनुसार जीवन जी सकें। ❑ ❑ ❑

स्वाधीनता से विकास

स्मरण रहे स्वाधीनता ही विकास की पहली शर्त है। जिसे तुम बन्धनमुक्त नहीं करोगे, वह कभी आगे नही बढ़ सकता। यदि कोई अपने लिए शिक्षक की स्वाधीनता रखते हुए सोचे कि वह दूसरो की उन्नति में सहायता दे सकता है और उनका पथ-प्रदर्शन कर सकता है, तो यह एक निरर्थक विचार है, एक भयानक मिथ्या बात है और इसी ने संसार के लाखों मनुष्यों की उन्नति में अड़ंगा डाल रखा है। तोड़ डालो मानव के बन्धन ! उन्हें स्वाधीनता के प्रकाश में आने दो। बस, यही विकास की एकमात्र शर्त है।

– स्वामी विवेकानन्द

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में पाठकों के प्रश्न तथा उसके साथ तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी द्वारा लिखित उत्तर भी मुद्रित हुआ करते थे। अब भी वे प्रश्नोत्तर अति प्रासंगिक है, अत: उन्हीं में से चुने हुए अंशों को हम पुनर्मुद्रित कर रहे है। – सं.)

१०. प्रश्न – *सभी धर्म और नीतिशास्त्र पाप-पुण्य पर जटिल विचार रखते हैं। क्या आप पाप-पुण्य की सीधी और सरल व्याख्या कर सकते हैं?*

उत्तर – पाप-पुण्य की सरल व्याख्या एक धर्मशास्त्र के श्लोकार्ध द्वारा की गयी है – **परोपकार: पुण्याय पापाय परपीड़नम्** – परोपकार ही पुण्य और परपीड़न पाप है। कुछ अतिवादी लोग परपीड़न का ऐसा मतलब लगाते हैं कि कभी किसी को दु:ख ही न देना। इससे कई लोग शंका करते हैं कि तो फिर चोर, डाकू, हत्यारे, लम्पट, व्यभिचारी आदि दुराचारी लोगों से किस प्रकार व्यवहार किया जाय? उनको दण्ड देना क्या परपीड़न नही है? इसका उत्तर यह है कि अन्याय का प्रतिकार और अन्यायी का दमन होना ही चाहिए और यह परपीड़न में न आकर परोपकार में आता है।

तीन प्रकार के कर्म माने गये है – (१) सामान्य कर्तव्य (२) पुण्य कर्म और (३) पाप कर्म। व्यक्ति सर्वदा समाज से सम्बन्धित होता है। उसके विचारों और कर्मों का प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। जब वह अपने व अपने परिवार के सदस्यो के जीवन-निर्वाह हेतु उचित तरीकों का सहारा लेते हुए अपनी जीवन-यात्रा तय करता है, तो उसके ये कर्म सामान्य कर्तव्य के अन्तर्गत आते है। यदि अनुचित तरीकों का सहारा लेता है, तो वह पाप कर्म करता है और समाज को भी अधोगति की ओर ले जाता है। जो कर्म व्यक्ति और समाज की अवनति करते हैं, वे पाप-कर्म की कोटि में आते हैं। दूसरी ओर जिन कर्मो से व्यक्ति और समाज की उन्नति होती है, उन्हें पुण्य-कर्म कहते हैं। भर्तृहरि ने अपने 'नीति-शतक' में इन तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्रण अति सुन्दर रूप से किया है –

एके सत्पुरुषा: परार्थघटका: स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत: स्वार्थाऽविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसा: परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।

भर्तृहरि पुण्यकर्मी को सत्पुरुष, सामान्य कर्मी को सामान्य और पापकर्मी को मानव-राक्षस कहते है। पापकर्मी की एक और श्रेणी भी वे बताते हैं जो मानव-राक्षस से भी गयी-बीती है, जिसका नामकरण वे नहीं कर पाते। वे कहते हैं – "एक तो सत्पुरुष होते हैं, जो अपना स्वार्थ तजकर दूसरों के हित-में लगे होते हैं; दूसरी कोटि सामान्य पुरुषों की है, जो वहीं तक दूसरों की भलाई करते हैं जब तक उनके अपने स्वार्थ में धक्का नहीं लगता; तीसरी कोटि में मानव-राक्षस आते हैं जो अपना स्वार्थ साधने हेतु दूसरों का गला घोटने में भी नहीं हिचकते; पर जो अकारण ही दूसरों के हित पर कुठाराघात किया करते हैं, वे किस कोटि में रखें जायँ, मैं नहीं जानता।"

११. प्रश्न – *मैंने पढ़ा है कि यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक सत्य बोलता रहे, तो उसकी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। इसका क्या तात्पर्य है?*

उत्तर – आपने ठीक ही पढ़ा है। इसका अर्थ यह है कि यदि व्यक्ति सत्य में प्रतिष्ठित हो जाय, तो वह जो कुछ कहेगा वह एक विशेष दायरे के अन्दर सत्य होकर रहेगा। बारह वर्ष समय की दीर्घता सूचित करने के लिए है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ऐसा सत्य-प्रतिष्ठ व्यक्ति यदि सूर्य से कहे कि तुम अभी डूब जाओ तो वह डूब जायेगा, अथवा चलती रेलगाड़ी के कहे कि तुम रुक जाओ तो वह रुक जायेगी। मनुष्य की अपनी एक सीमा होती है, उस सीमा के भीतर ऐसे सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति के मुख से हठात् निकले शब्द भी सत्य होकर रहते हैं – यही तात्पर्य है।

१२. प्रश्न – *गीता में फल की चाह न करते हुए कर्म करने की बात लिखी है। क्या यह सम्भव है? गीता के इस निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त का हमारे दैनिक जीवन में क्या उपयोग हो सकता है?*

उत्तर – निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त के दो पहलू है – (१) भौतिक और (२) आध्यात्मिक। भौतिक पहलू हमारे कर्मो को पूर्णता प्रदान करता है, उन्हें अधिक-से-अधिक फलप्रसू बनाता है। आध्यात्मिक पहलू कर्म में निहित स्वाभाविक विष से हमारी रक्षा करता है, हमे असफलता के समय टूटने से बचाता हैं और सफलता के उन्माद का मोचन करता है। ये दोनों पहलू एक दूसरे के पूरक है, अत: दोनों को मिलाकर ही निष्काम कर्म के सिद्धान्त का सम्पूर्ण

अर्थ प्राप्त होता है। हम अब इन पहलूओं पर अलग-अलग विचार करें।

(१) भौतिक पक्ष – यह कहता है कि कर्म के फल की अतिरिक्त चाह न रखो। कर्मफल की चाह तो स्वाभाविक है। जब मनुष्य कोई कर्म करता है, तो उसके फल की कामना से प्रेरित होकर ही करता है। पर गीता कहती है कि चाह की तीव्रता इतनी न कर लो, जिससे कर्म करने की शक्ति में बाधा पड़े। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी करता है। ज्योंही पुस्तक खोलकर वह पढ़ने बैठता है, उसकी आँखों के सामने परीक्षा-फल नाचने लगता है। सोचता है, यदि अमुक श्रेणी में पास होऊँगा, तो विदेश पढ़ने के लिए जाऊँगा। वह कल्पना के महल खड़ा करता रहता है और इस व्यर्थ की फल-चिन्ता में उसका अधिकांश समय नष्ट हो जाता है। यह समय वह यदि पढ़ाई में लगा देता, तो उसका कर्म अधिक मक्षम और पूर्ण बनता और उस कर्म का फल भी उसके लिए अधिक वांछित होता। यही बात प्रत्येक क्षेत्र में लागू होती है। हम कर्म करने में अधिक ध्यान न देते हुए उससे प्राप्त होने वाले फल के चिन्तन में समय व्यर्थ गँवाया करते हैं। अत:, निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त का भौतिक पक्ष कहता है कि पूरी शक्ति के साथ कर्म करते चलो। उसका उचित फल तो कर्म के न्याय के अनुसार अनिवार्य रूप से प्राप्त होगा ही। व्यर्थ के फल-चिन्तन में समय न गँवाओ। फल के बारे में सोचते रहने से मन भटक जाता है, हम अपना पूरा मन कार्य में नहीं लगा पाते। इसीलिए वह फल की चाह करने से हमें रोकता है।

(२) आध्यात्मिक पक्ष – यह कहता है कि ईश्वर-अर्पित बुद्धि से जीवन के कर्म करो; अर्थात् कर्म करो और पूरी शक्ति के साथ करो, परन्तु उसका फल ईश्वर पर छोड़ दो। यह दृष्टिकोण हमारी रक्षा करता है। मान लीजिए, किसी ने पूरे मन-प्राण के साथ एक कर्म किया और अन्त में इतने प्रयत्न के बावजूद भी उसे असफलता हाथ लगी। जो व्यक्ति निष्काम कर्म का विश्वासी नहीं है, उसकी क्या दशा होगी? वह टूट जाएगा, बिखर जाएगा। वह समाज को दोष देगा। वह हताश हो जाएगा और सम्भव है जीवन से भी निराश हो जाए। भौतिकवादी लोगों के जीवन में बहुधा हम यह असफलता-जन्य निराशा देखा करते हैं। एक बार असफल होने पर वे पुन: खड़े होने में समर्थ नहीं हो पाते। अब उनको देखें जो निष्काम कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं और अपने कर्मों के फल ईश्वर पर छोड़ देते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति असफल होता है, तो वह सोचता है कि ईश्वरेच्छा से ऐसा हुआ। वह सन्तोष कर लेता है कि इस असफलता से ईश्वर उसका मंगल ही करेंगे। और इस प्रकार स्वयं को टूटने से बचाकर, वह ईश्वर में अधिक विश्वास के साथ, दुगने उत्साह से कार्य में लग जाता है। जब उसे सफलता मिलती है, तो उसे भी वह ईश्वर की कृपा समझता है और अपने-आपको एक नगण्य निमित्त मात्र मानता है। दोनों ही स्थितियों में कर्म का लेप उस पर नहीं लग पाता। उसका समर्पण-भाव कर्म के विष से उसकी रक्षा करता है।

यहाँ पर कुछ लोग ऐसी आपत्ति उठा सकते हैं कि यह तो पलायनवाद हुआ। ईश्वर को फल समर्पित करना तो मात्र एक कल्पना है। इसका उत्तर यह है कि आखिर जीवन भी तो एक कल्पना ही है। भौतिकवादी जितने कार्य करता है, वह सब भी तो महज कल्पना से उपजे होते हैं। यह विश्व ही तो मन का खेल है। मनुष्य का टूटना या बनना उसके मन के टूटने या बनने पर निर्भर करता है। अत: यदि कोई कल्पना हमें टूटने से बचाकर हमें बनाती हैं तो उसका सहारा हम क्यों न लें? अक्षांश और देशान्तर की रेखाएँ कोई खिंची हुई प्रकृति की रेखाएँ तो है नहीं, फिर भी उनके सहारे हम वायुयान और जलयान से यात्रा करके गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। उसी प्रकार इन भावों की भी उपयोगिता है। फिर, ईश्वर तो कल्पना की उपज है नहीं, वह जीवन का शाश्वत सत्य है, वह अखिल शक्ति का स्रोत है।

अत: आप निष्काम कर्म रूपी सिद्धान्त के इन दोनों पक्षों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। आप देखेंगे कि उसका जीवन में आचरण करना सम्भव है और वही एकमात्र ऐसा रास्ता है जो हमें आगे बढ़ने में सहायता प्रदान कर सकता है।

१३. प्रश्न – *गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान के साथ विज्ञान का भी उपदेश दिया है। जैसे – **'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्'**, **'ज्ञानं विज्ञानसहितम्'** आदि उपदेश भगवान के मुख से निकले है। इस 'विज्ञान' का क्या अर्थ है? क्या उसे हम आधुनिक 'साइंस' के अर्थ में ले सकते हैं?*

उत्तर – नहीं, वहाँ 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग 'साइंस' के अर्थ में नहीं हुआ है। विज्ञान का अर्थ है विकर्ष ज्ञान या 'स्वानुभव संयुक्त ज्ञान', जैसा कि शंकराचार्य अपने गीता-भाष्य में इस शब्द की टीका करते हुए लिखते हैं। 'ज्ञान' वह है जो हमने ग्रन्थो और गुरुओं से प्राप्त किया है और 'विज्ञान' वह है जब हम ग्रन्थों और गुरुओं से पाए इस ज्ञान को अपने अनुभव मे उतार लेते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के कथन का मर्म यह है कि वे अर्जुन को असिद्ध ज्ञान नही देना चाहते थे। जो ज्ञान उनके स्वयं के अनुभव मे उतर चुका था, जिसको उन्होंने अपनी अनुभूति द्वारा सिद्ध कर लिया था, उसी को वे विज्ञान कहते हैं और उसी का दान वे अर्जुन को करते हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

वेदान्त–सार (३)

अज्ञान का विस्तार

अस्य अज्ञानस्य आवरण-विक्षेप-नामकम् अस्ति शक्ति-द्वयम् ।।५१।।

– इस अज्ञान आवरण तथा विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं।

आवरण-शक्तिः तावत् अल्पो अपि मेघः अनेक-योजन-आयतम् आदित्य-मण्डलम् अवलोकयितृ-नयन-पथ-पिधायकतया यथा आच्छादयति इव तथा अज्ञानं परिच्छिन्नम् अपि आत्मानम् अपरिच्छिन्नम् असंसारिणम् अवलोकयितृ-बुद्धि-पिधायकतया आच्छादयति इव तादृशं सामर्थ्यम् । तद्-उक्तं – 'घनच्छन्नदृष्टिः घनच्छन्नम् अर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः । तथा बद्धवत् भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धि-स्वरूपो-ऽहम्-आत्मा ।।' इति ।।५२।।

– जैसे बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा अनेक योजन (करोड़ों मील) परिधि (विस्तार) वाले सूर्यमण्डल की ओर देखनेवालों के दृष्टिपथ को अवरुद्ध कर देता है, वैसे ही 'अज्ञान' में ऐसी सामर्थ्य है कि वह सीमित (परिच्छिन्न) होकर भी द्रष्टा की बुद्धि को अवरुद्ध (बाधित) करके असीम, अजन्मा, आत्मा को ढँक देता है। कहा भी गया है, "जैसे एक अतीव मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि मेघ से आच्छन्न हो जाने पर, उसे सूर्य ही आच्छादित तथा प्रभाहीन प्रतीत होता है; वैसे ही मूढ़दृष्टि (बद्ध) व्यक्ति को, जो नित्यबोध-स्वरूप तत्त्व बद्ध के समान प्रतीत होता है, मैं वही आत्मा हूँ।" (हस्तामलकम्, १०)

अनया आवृतस्य आत्मनः कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सुखित्व-दुःखित्व-आदि-संसार-सम्भावन अपि भवति यथा स्व-अज्ञानेन आवृतायां रज्ज्वां सर्पत्व-सम्भावना ।।५३।।

– जिस प्रकार रस्सी द्वारा अपने अज्ञान से आवृत्त हो जाने पर उसमें सर्पत्व की प्रतीति होती है, उसी प्रकार इस 'आवरण' शक्ति से युक्त आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुखित्व आदि से युक्त संसार की सम्भावना होती है।

विक्षेप-शक्तिः तु यथा रज्जु-अज्ञानं स्व-आवृत-रज्जौ स्व-शक्त्या सर्पादिकम् उद्भावयति एवम् अज्ञानम् अपि स्व-आवृत-आत्मनि स्वशक्त्या-आकाशादि-प्रपञ्चम् उद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तं – 'विक्षेपशक्तिः लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्' इति ।।५४।।

– जैसे रस्सी के बारे में अज्ञान अपनी शक्ति से रस्सी को आवृत्त करके उसमे सर्प आदि का बोध उत्पन्न करता है, वैसे ही अज्ञान भी अपनी शक्ति से आत्मा को आवृत्त करके (उसमें) आकाश आदि (पंचभूतमय) प्रपंच को दिखाती है। 'विक्षेप शक्ति' में ऐसी ही सामर्थ्य है। कहा भी गया है – "विक्षेपशक्ति लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तक जगत् की सृजन करती है।" (वाक्यसुधा, १३)

शक्ति-द्वयवद्-अज्ञान-उपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्व-उपाधि-प्रधानतया उपादानं च भवति ।।५५।।

– (आवरण तथा विक्षेप) – इन दोनों प्रकार की शक्तिवाले अज्ञान रूप उपाधि से युक्त चैतन्य अपनी प्रधानता से (इस ब्रह्माण्ड का) निमित्त कारण है और उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण है।[1]

यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्व-शरीर-प्रधानतया उपादानं च भवति ।।५६।।

– जैसे मकड़ी अपनी प्रधानता से जाले का निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण भी है।

तमःप्रधान-विक्षेपशक्तिमद्-अज्ञान-उपहित-चैतन्याद् आकाशः आकाशाद्-वायुः वायोः अग्निः अग्नेः आपः अद्भ्यः पृथिवी च उत्पद्यते 'एतस्माद्-आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि-श्रुतेः ।।५७।।

– तमस् प्रधान विक्षेपशक्ति वाले अज्ञान उपाधि के साथ युक्त चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। जैसा कि "इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ।" (तै. उ. २/१/१) आदि के द्वारा श्रुति में कहा गया है।

तमोगुण की प्रधानता

तेषु जाड्य-आधिक्य-दर्शनात् तमःप्राधान्यं तत्-कारणस्य । तदानीं सत्त्व-रजः-तमांसि कारण-गुण-प्रक्रमेण तेषु आकाश-आदिषु उत्पद्यन्ते ।। ५८।।

– इन (आकाश आदि पंचभूतों) में जड़ता का आधिक्य परिलक्षित होने से, उनके 'कारण' में तमस् की प्रधानता है। उस (सृष्टि के) समय 'कारण' गुण के संक्रमण से आकाश आदि में सत्त्व-रजस्-तमस् उत्पन्न होते हैं।

एतानि एव सूक्ष्म-भूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि च उच्यन्ते ।।५९।।

– इन सूक्ष्म भूतों को तन्मात्राएँ तथा अपंचीकृत भूत कहते हैं।

एतेभ्यः सूक्ष्म-शरीराणि स्थूल-भूतानि च उत्पद्यन्ते ।।६०।।

– इन्हीं (आकाश आदि सूक्ष्म भूतों) से सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूत (पदार्थ) उत्पन्न होते हैं। ❖ (क्रमशः) ❖

१. जैसे घट के लिए कुम्हार निमित्त कारण है और मिट्टी उपादान कारण।